पार्श्वनाथ विद्याश्रम व्याख्यानमाला पुष्प—१

प्राकृत भाषा

[पार्श्वनाथ विद्याश्रम द्वारा आयोजित व्याख्यानमाला मे हिन्दू यूनिवर्सिटी मे दिए गए तीन व्याख्यान]

व्याख्याता

प्रबोध बेचरदास पंडित M A , Ph D (London)

संस्कृताध्यापक, ला० द० आर्ट्स कालेज और म० ग० साइन्स इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

बनारस–५

प्रकाशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम
बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

१९५४
डेढ़ रुपया

मुद्रक
शारदा मुद्रण
बनारस।

प्रकाशक की ओर से

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम की बहुविध प्रवृत्तिओ मे एक यह भी योजना थी कि हिन्दू यूनिवर्सिटी मे समय समय पर विशेषज्ञो के द्वारा जैनधर्म और प्राकृत भाषा से संबद्ध विषयो की व्याख्यानमाला का आयोजन हो। तदनुसार प्रथम व्याख्यानमाला का आयोजन सितम्बर १९५३ मे हुआ और डा० प्रबोध पडित Ph D के प्राकृतभाषा के विषय मे तीन व्याख्यान हिन्दू यूनिवर्सिटी के भारती महाविद्यालय मे हुए। उन व्याख्यानो को प्रस्तुत पुस्तिका के रूप मे प्रकाशित करते हुए परम हर्ष हो रहा है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जबतक प्राकृत भाषा के अध्ययन को गति नही मिलेगी तब तक सस्कृत कुल की भारत को आधुनिक भाषाओ का अध्ययन भाषादृष्टि से अधूरा ही रहेगा। प्रस्तुत व्याख्यानो मे डा० प्रबोध पडित ने प्राकृत भाषा के विकास की कथा अतिसक्षेप मे दी है। उनकी मातृभाषा गुजराती होते हुए भी उन्होने राष्ट्रभाषा हिन्दी मे ही व्याख्यान दिए है। इससे हिन्दीभाषी विद्वानो का ध्यान यदि प्राकृत भाषा के विशेपाध्ययन की ओर आकृष्ट हुआ तो उनका श्रम सफल होगा।

व्याख्यानमाला के लिए डा० प्रबोध पंडित अहमदाबाद से बनारस आए, डा० राजबली पाण्डेय ने व्याख्यानमाला की आयोजना अपने भारती महाविद्यालय मे की, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, डा० टी० आर० वी० मूर्ति तथा डा० राजबली पाण्डेय ने व्याख्यानो के अवसर पर अध्यक्षपद को सुशोभित किया—एतदर्थ इन सब विद्वानो का मै आभारी हूँ। पार्श्वनाथ विद्याश्रम के उत्साही मंत्री श्री हरजसरायजी जैन के सपूर्ण सहकार के विना यह आयोजन सभव ही नही था अतएव उनको भी धन्यवाद देता हूँ।

दलसुख मालवणिया

सचालक,

पार्श्वनाथ विद्याश्रम व्याख्यानमाला

बनारस यूनिवर्सिटी

ता० २७-४-५४

निवेदन

ये व्याख्यान सितम्बर १९५३ मे पार्श्वनाथ विद्याश्रम के उपक्रम से कॉलेज ऑव् इन्डोलोजी, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी मे जैसे दिए गए थे वैसे ही छपे है। मेरी मातृभाषा गुजराती है, और मेरी हिन्दी मे जो कुछ गलतियाँ रह गई हो उसे जैसे श्रोताजनो ने क्षन्तव्य गिनी थी वैसे पाठकजन भी गिनेगे ऐसी आशा है। व्याख्यानो मे जो कुछ कमी हो या त्रुटि हो उसकी ओर मेरा ध्यान खींचने की पाठकजन से विनंति है।

व्याख्यानो की पाडुलिपि देख कर हिन्दी सुधारने के लिए मै प्राध्या० रणधीर उपाध्याय एम० ए० साहित्यरत्न का और व्याख्यानो की छपाई मे परिश्रम करने के लिए प्राध्या० दलसुख मालवणिया का मै ऋणी हूँ।

प्रोफेसर्स क्वार्टर्स
अहमदाबाद—९
मे, १९५४

प्र० बे० पंडित

१

प्राकृत की ऐतिहासिक भूमिका

आर्य भाषा का इतिहास काफी प्राचीन है। किसी भाषा का इतना प्राचीन इतिहास उपलब्ध नही है। हमारी दृष्टि से हम इसको दो विभागो मे विभाजित कर सकते है। पहला आर्य ईरानी कुल का उत्तर कालीन विकास और दूसरा उसका पूर्व स्वरूप इन्डोयूरोपियन भाषा कुल से सबध। वस्तुत, यह दोनो इतिहास एक दूसरे से सलग्न तो है ही, इस वास्ते एक का अध्ययन करते समय दूसरी ओर दृष्टि रखना आवश्यक हो जाता है। प्रस्तुत व्याख्यानो का विषय भारत मे आई हुई आर्य भाषा के विकास की मात्र एक अवस्था प्राकृत भाषा की आलोचना करने का है—प्राकृत भाषाएँ भारत के भाषाइतिहास की एक अत्यन्त आवश्यक भूमिका है। एक ओर से वर्तमान काल की बोलचाल की नव्य भारतीय आर्य भाषाएं और दूसरी ओर से प्राचीनतम भारतीय आर्य भाषा जैसे कि वेद की भाषा, यह दोनो स्वरूपो के बीच की जो भारतीय भाषाइतिहास की अवस्था है उसको हम प्राकृत का नाम दे सकते है। किसी न किसी तरह के प्राकृत सक्रमण के पश्चात् ही प्राचीन भारतीय आर्यभाषा नव्य भारतीय आर्यभाषा मे परिणत हो सकी। भाषाइतिहास का एक महत्त्व का सिद्धात क्रमिकता (continuity) है। ध्वनि सक्रमण आकस्मिक वा अनियत्रित नही किन्तु क्रमश और सुनियत्रित होते है, इसी वजह से किसी भी भाषासमाज को अपने पुरोगामी वा अनुगामी सामाजिको से वह भाषादृष्टि से विच्छिन्न हो गया है ऐसा अनुभव नही होता। भाषा समाज की एक धारक शक्ति है और इसलिए उसका विकास नियत क्रमिक रूप से ही होता है।

भारत मे आर्य भाषा के प्राचीनतम स्वरूप को हम प्राचीन भारतीय आर्य भाषा कहते है। जब आर्य प्रजाएँ विजेता की हैसियत से

भारत में आई तब उनकी भाषाको अनेक आर्येतर प्रजाओं की भाषा से मुकाबला करना पड़ा और उसके बाद ही आर्य भाषा ने भारत में अपनी सांस्कृतिक पकड़ जमा ली। वेद काल से लेकर ब्राह्मण काल तक आर्य भाषा इस प्रकार की सांस्कृतिक स्पर्धा में पूर्णतया विजेता रही। और इस काल की आर्य भाषा भारतीय आर्य भाषा की प्रथम भूमिका है। इस काल के बाद आर्य भाषा का स्थल और काल दृष्टि से गतिशील विकास होता रहा, और इस विकास के साथ ही आर्य भाषा की दूसरी भूमिका का आरंभ होता है, यह भूमिका है प्राकृत। यह आर्य प्रजा जब भारत में आई तब भारत में अनेक भाषाभाषी अन्यान्य आर्येतर प्रजाएँ विद्यमान थीं यह हकीकत आज सुविदित है। जब आर्यपूर्व प्रजाएं अपनी भाषा छोड़कर इन आगन्तुक आर्यों की भाषा को अपनाने लगी होंगी, और वह भी भिन्न-भिन्न स्थल पर और भिन्न-भिन्न काल में तब अनेक तरह की प्राकृतों का प्रादुर्भाव हुआ होगा। और इस धारणा से हम अनेक तरह की प्राकृतें पाने की आशा रख सकते हैं। किन्तु, जब प्राकृत साहित्य की ओर दृष्टि करते हैं तब अलग परिस्थिति उपस्थित होती है। उपलब्ध प्राकृतों में प्राचीनतम प्राकृत जैसे कि अशोक के शिलालेख और ऐसे कुछ नमूनों को छोड़कर उत्तरकालीन प्राकृत साहित्य में विशेषतः एक ही तरह की प्राकृत हमको मिलती है। शिष्ट संस्कृतसाहित्य के नमूने पर ही, अधिकतर शिष्ट प्राकृत ही साहित्य में उपलब्ध है। अशोक के बाद शौरसेनी प्राकृत, उसके बाद महाराष्ट्री और उसके बाद शिष्ट अपभ्रंश-काल और स्थल के फलस्वरूप कुछ बोलीभेद को छोड़कर यह एक मात्र शिष्ट शैली का प्रवाह है, और लेखक उत्तर के हों या दक्खिन के, पूर्व के हों या पश्चिम के, लिखते हैं इस एक ही शिष्ट मान्य स्वरूप में। प्राकृत साहित्य का अन्तिम काल— अपभ्रंश काल —अर्वाचीन नव्य भारतीय भाषाओं का पुरोगामी है, फिर भी पूर्व या पश्चिम के अपभ्रंश में पूर्व या पश्चिम की नव्य भारतीय आर्य भाषाओं की भांति कोई फर्क नहीं है। हम आगे देखेंगे कि यह दुर्भाग्य, भारत के समग्र इतिहास का है। इस पुराणप्रिय देश में लेखक, कवि, विद्वान, सब, जब लिखना आरम्भ करते थे, तब हमेशा प्राचीन और इसी वास्ते शिष्ट भाषा का ही व्यवहार करते थे। फर्क इतना ही था कि कोई शिष्ट संस्कृत में लिखना पसंद करता, तो कोई शिष्ट प्राकृत में, शायद विषया-

नुसार भाषा पसद करते थे। तत्कालीन बोलचाल की भाषा से उनको कोई सम्बन्ध न था। वर्तमान कालको छोड़कर, भारतमे हमेशा साहित्य और सस्कृति मे काफी अतर रहता ही आया है।

बुद्ध और महावीर से प्राकृत काल का आरम्भ होता है, और यह काल, साहित्यस्वरूप मे करीब-करीब विद्यापति, ज्ञानेश्वर आदि नव्य भारतीय आर्य भाषा के आदि लेखको से चार या पॉच शताब्दी से पहले खतम हो जाता है। भाषाविज्ञानियो की परिभाषा मे इनको मध्य भारतीय आर्य (Middle Indo-Aryan) कहते है। उसके बाद नव्य भारतीय आर्य भाषाओ (New Indo-Aryan) का आरम्भ दसवी शताब्दी से होता है।

हमारा प्रस्तुत अध्ययन का विषय है प्राकृत काल। यह काल करीब-करीब पन्द्रह सौ साल तक इस विशाल भारत देश मे जारी रहा। कोई भी भाषा इतने काल तक स्थिर रह नही सकती, खास करके इस विशाल देश मे तो कभी नही। भिन्न-भिन्न काल मे भिन्न-भिन्न स्थल पर तरह-तरह की प्राकृतो का विकास होता चला होगा, और उनके तरह-तरह के नाम भी होगे। जैसे एक ही लैटिन भाषा कालक्रम से एक जगह स्पेनीश कहलाती है, दूसरी जगह फ्रेंच कहलाती है, कही प्रोवॉसाल, कही पोर्तुगाली, वैसे ही एक प्रकार की प्राकृत भाषा काल स्थल के भेद से एक जगह गुजराती, दूसरी जगह मराठी, कही बॅगला, कही हिन्दी ऐसे नाम पाती है। प्राकृत के बहुत से भेद उत्तरकालीन वैयाकरणो और साहित्यकारो ने बताये है। किन्तु नामो की इस विपुलता से भाषावैज्ञानिक को कुछ भी घबराहट न होनी चाहिये। अमुक भाषा का अमुक नाम क्यो हो गया यह तो एक ऐतिहासिक अकस्मात् है, भाषावैज्ञानिक को उससे खास मतलब नही, वह जानता है कि वह नामाभिधान भाषा की किसी विशिष्टता का द्योतक नहीं है। अमुक भाषा को गुजराती कहना और अमुक को मारवाड़ी या बिकानेरी कहना, अमुक को बॅगला कहना या अमुक को मैथिली इस अभिधान से भाषावैज्ञानिक को कोई झगड़ा नही। उसको नाम से वास्ता नही, लक्षण से है। उस काल मे उस भाषा के व्यावर्तक लक्षण क्या थे यह हकीकत उसकी दृष्टि से अधिक महत्त्व की है। उसी दृष्टि से प्राकृत काल की प्राचीनतम परिस्थिति क्या थी, किस-किस तरह के बोलीभेद

उनमे थे, जो बाद मे भिन्न-भिन्न भाषाओ मे परिणत हुए, उनका अध्ययन इन व्याख्यानो का प्रधान विषय है।

इस विषय की आलोचना के पहले आर्य भाषा का भारत बाहर का इतिहास और ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति का विकास और उनकी मर्यादाओ पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

आज से करीब-करीब दो सदी पहले मानव के विकासक्रम के अभ्यास के साथ-साथ भापा के भी विकास का इतिहास है ऐसी प्रतीति होने लगी। अन्यान्य भाषाओ की तुलना शुरू हुई और उनके परस्पर सम्बन्ध की परीक्षा हुई। खास करके, प्रारम्भ मे, भापा को एक इतिहास की दृष्टि से परखने मे डार्विन की विचार सरणी से ठीक-ठीक वेग मिला। डार्विन ने दो ग्रथ लिखे 'डीसेन्ट ऑव मेन' और 'ओरिजिन ऑव स्पीशीझ'। इनके अतिरिक्त जो अन्य लेख लिखे उसमे उन्होने भाषा की उत्पत्ति के बारे मे भी ऊहापोह किया है। भाषा की उत्पत्ति का यह प्रश्न आज तो भाषाविज्ञानियो ने छोड़ ही दिया है, किन्तु डार्विन की विचार परम्परा के असर से भाषाविज्ञान के आरम्भ काल मे ही जीव-विज्ञान की तुलनात्मक पद्धतियो का ठीक असर पडा, और आज तक ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति मे उन्ही की परिभाषा अपनाई गई है। बाद मे, योरप की प्राचीन भाषाओ की तुलना होने लगी, और उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे फ्रेच और अग्रेजो के द्वारा सस्कृत का परिचय उन विद्वानो को हुआ। सस्कृत के परिचय ने भाषाविज्ञान को असाधारण वेग दिया, और इसमे भाषाइतिहास की नीव डाली जर्मनो ने। ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति के अग्रणी जर्मन विद्वान् और कुछ डेनिश विद्वान् ही रहे। इस काल मे इण्डोयूरोपियन गण की अन्यान्य भाषाओ के इतिहास की खोज हुई, और इण्डोयूरोपियन के स्वरूप का भी काफी विचार हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध तक इस विषय मे नेतृत्व जर्मन और फ्रेच विद्वानो का रहा। उसके बाद, यानि बीसवी शताब्दी के दूसरे और तीसरे दशको मे, समाजविद्या के अन्य अगो की तरह, भाषाविज्ञान मे भी खूब परिवर्तन आ गया। ध्वनिविज्ञान का खूब विकास हो गया। और कार्यकारणभाव की खोज की अपेक्षा भाषा के प्रक्रिया और स्वरूप (Process, Structure) क्या है उनकी खोज आगे बढ़ी। यह स्वरूपविवेचक भाषाशास्त्र (Structural

linguistics) शुरू हुआ फ्रास मे ही, पर फूलाफाला इङ्गलैड और अमरीका मे, और डेन्मार्क मे। भाषाविज्ञान की खोज मे इन अर्वाचीन पद्धतियो ने पुरानी तुलनात्मक और ऐतिहासिक दृष्टि को सॅवारने मे काफी भाग बॅटाया है। और आज समय आया है कि इस अर्वाचीन दृष्टि के निकष से इण्डोयूरोपियन भाषाओं का इतिहास परखा जाय ।

इन्डोयुरोपियन भापाका खयाल ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति की ही देन है।

हीटाईट, टोखारियन, सस्कृत, पुरानी फारसी, ग्रीक, लैटिन, आईरिश, गोथिक, लिथुआनिअन, पुरानी स्लाव, आर्मेनिअन, इन सब भाषाओ की तुलना से मालूम होता है कि इन भाषाओके व्याकरण, शव्दकोष इत्यादि मे असाधारण साम्य है। ऐसा साम्य होना आकस्मिक नही। इस साम्य से तो एक ही बात निष्पन्न हो सकती है कि किसी एक कालमे एक जगह जो एक भापा विद्यमान थी उसके ये सब अनुगामी स्वरूप है। इस मूल भाषा मे जो बोली भेद विद्यमान थे—और हरेक भाषा मे बोली भेद होना स्वाभाविक ही है—वे कालक्रम से स्वतत्र भाषारूप मे परिणत हुए, और उसके फलस्वरूप हम ये अलग-अलग भाषाये पाते है। तो ये भाषाये प्रारभ मे बोलियॉ थी पर इतनी विभिन्न नही कि परस्पर अर्थबोध न हो सके। ये बोलियॉ बाद मे स्वतत्र भाषाओके स्वरूप मे विकसित हुई है किन्तु उनके उत्तरकालीन विकासको अलग छोड़कर उनकी तुलना की जाय तो हम मूल इन्डोयुरोपियन भाषा के स्वरूप का खयाल पा सकते है। और, इस अविद्यमान इन्डोयुरोपियनके स्वरूपका ख्याल पाने का यह एक ही रास्ता है। और इस इन्डोयुरोपियन का ख्याल पाने के बाद ही हम उसकी इन बोलियो के अन्यान्य व्याकरण के स्वरूप एवं सबध के प्रश्नो को हल कर सकते है। तुलनात्मक व्याकरण का यह एक महत्त्व का सिद्धात है कि एक मूलभाषा की अपेक्षा से तज्जन्य भाषाओं के व्याकरण के स्वरूप को और ध्वनिस्वरूप को स्पष्ट करना। इसका उदाहरण हम भारत की भापाओ से स्पष्ट कर सकते है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का स्वरूप वैदिक सस्कृत के रूप मे विद्यमान है, और मध्य भरतीय आर्यभाषा का स्वरूप प्राचीन पालि और प्राकृत रूप मे विद्यमान है।

मान लीजिए कि, अर्वाचीन भारतीय आर्य भाषा के पुरोगामी स्वरूप बिलकुल अविद्यमान है, और अर्वाचीन भाषाओं से ही गुजराती, मराठी, बंगला आदि का परस्पर संबंध और व्याकरण समझाना है। किसी भी भारतीय आर्य भाषा का अभ्यास करते समय इतना तो आसानी से तय हो जायगा कि यह इन्डोयुरोपियन गण की भाषा है। उदाहरण-हिंदी उसके सर्वनाम के रूप, सज्ञा और क्रिया की प्रक्रिया इत्यादि का इन्डोयुरोपियनसे संबध लगाया जा सकता है, किन्तु हिंदी को ही केन्द्र मे रख कर अन्य नव्यभारतीय भाषाएँ समझाने में बहुत सी व्याकरण की घटनाएँ बिना समझाये ही रह जायँगी। जैसे कि हिंदी मे नान्यतर नहीं है, मराठी, गुजराती, कोकणी और भद्रवाही मे नान्यतर है, गुजराती मे सज्ञा है घोडो, हिंदी मे है घोड़ा, हिंदी का भविष्यकाल है 'करूँगा', गुजराती का 'करीश', ऐसी अनेक घटनाएँ होगी जो हिंदी से नही समझाई जा सकती। इसके लिये तो इन सब भाषाओं की कोई पूर्वावस्था की कल्पना करनी ही पड़ेगी जैसे कि नान्यतर, जो प्राचीन आर्यभाषा मे था वह एक गण मे गुजराती, मराठी, कोंकणी भद्रवाही मे बच गया, और दूसरे गण मे जैसे कि हिंदी, बगला आदि मे बचा नही। प्राचीन स्वरूप की कल्पना से ही अर्वाचीन भाषाओं का इतिहास समझाया जा सकेगा। भारतीय आर्य भाषा मे सद्भाग्य से यह प्राचीन स्वरूप विद्यमान है, इसलिए कल्पना की आवश्यकता नहीं, किंतु इन्डोयुरोपियन के विषय मे इससे उलटा है। उसकी बोलियाँ तो विद्यमान है पर प्राचीन स्वरूप विद्यमान नहीं है, वहाँ प्राचीन स्वरूप कि पुनर्घटना (Hypothetical reconstruction) से ही उसकी बोलियो का व्याकरण समझाया जा सकता है। इस प्रयोजन से ही गत शताब्दियो मे और इस शताब्दी के प्रारंभ-काल मे तुलनात्मक और ऐतिहासिक व्याकरण की पद्धति आगे बढी, और इयु का स्वरूप निश्चित किया गया। इस तरह से जो स्वरूप निश्चित किया गया है उसकी मर्यादाएँ अवश्य है, और वह कभी नही भूलनी चाहिये। इयु शब्द सिर्फ तज्जन्य बोलियो के व्याकरण और ध्वनिस्वरूप समझाने की एक फार्म्युला मात्र है, इयु का एक वाक्य भी उन शब्दो से बनाया नही जा सकता।

इयु मे न तो कहानियाँ लिखी जा सकती है, न तो वाक्य लिखे जा सकते है। ऐसे प्रयत्न करना बेजिम्मेदार काम गिना जाता है, और

आजकल कोई ऐसा करता भी नही। जैसे-जैसे भाषाविज्ञान और ध्वनिविज्ञान का गभीर अध्ययन होता जा रहा है, वैसे मालूम होता है किसी भी भाषा के उच्चारण का ख्याल सिर्फ ऐसे अक्षर या शब्द बनाने से नही आ सकता। पद के अन्तर्गत कुछ ध्वनियाँ ऐसी होती है जो समग्र उच्चारण को बदल देती है। जैसे कि दूर रहे र कार से 'न' का 'ण' हो जाता है। यह तो एक सुपरिचित प्रक्रिया है। ऐसी कई प्रक्रियाएँ भाषा मे होती है और उनकी खोज अवश्य करनी होगी। आजपर्यन्त इयु के स्वरूप की कल्पना मे अधिकतर एक-एक अक्षर को अलग अलग कर समझाने की प्रवृत्ति से ऐसी प्रक्रियाओ की उपेक्षा हुई है। पिछले कुछ सालो से इस दृष्टि से भाषाविज्ञान की खोज मे थोडी बहुत प्रवृत्ति होने लगी है। इस विषय मे लन्दन स्कूल के ध्वनि-वैज्ञानिको के निबध एवं ग्रन्थ की ओर आपका ध्यान खीचता हूँ।

(Prof Firth—"Sounds and Prosodies", Transactions of Philological Society, W. S. Allen—"Phonetics in Ancient India" 1953 Oxford Uni Press,)

यह है इन्डोयुरोपियन भाषा के ज्ञान के बारे मे हमारी मर्यादा। इयु की बोलियो के ज्ञान के लिए भी ईसा के पूर्वीय आधार भूत लिखित साहित्य सिर्फ चार या पाच बोलियो मे ही मिलता है। हिटाईट, इन्डो-ईरानियन, ग्रीक, गोथिक और लेटिन। प्राचीन साहित्य लिपिबद्ध न होने के अनेक कारण हो सकते है। उस काल मे लिपिज्ञान मर्यादित होगा। और दूसरा भी कारण हो सकता है। हम जानते है कि प्राचीनतम इयु प्रजा मे भी किसी न किसी ढग से यज्ञ द्वारा देवताओ का आह्वान करना और उन देवताओ की सहायता से दुश्मनो का नाश करना इन दो प्रवृत्तियो को करनेवाले वर्ग पुरोहित और वीर-क्षत्रिय विद्यमान थे। क्रमश, इयु के अनुगामी हरेक समाज मे पुरोहित का महत्त्व बढता रहा, और जहा-जहा इयु प्रजा गई वहाँ पुरोहित का महत्त्व स्थापित हो गया। यज्ञ की, और उसके द्वारा धर्म की रक्षा करना और इससे सम्बन्धित सर्व अधिकार अपने पास रखना यह पुरोहित का उद्देश्य था। याज्ञिक सस्कृति की यह मोनोपोली पुरोहित के पास ही रह गई थी, और उसकी रक्षा के लिये यज्ञ के विधि-विधान अत्यत जटिल और गूढ बनाये गये ताकि अन्य किसी व्यक्ति को इस रहस्य का पता आसानी से न चल सके। अनधिकारियो को पुरोहित

की दृष्टि से तो उसमे प्रवेश ही न था, यह बात सुविदित है। अगर यह साहित्य लिपिबद्ध हो जाय तब तो सर्वगम्य हो जाने का भय था, और पुरोहित की मोनोपोली टूटने का भय था। इसी वास्ते इयु प्रजाओं का बहुत सा साहित्य सदियो तक लिपिबद्ध नही हुआ। अन्य प्रजाओं से इयु लोगो ने लिपि का ज्ञान पाने के बाद भी लिपि का प्रयोग न करने मे पुरोहित की धर्माधिकार वृत्ति का अधिक हिस्सा है। शायद इसी लिये, पहले पहल लिपिप्रयोग का आरम्भ पुरोहितप्रधान आर्य परम्परा वाले धर्म से न होकर अधिक उदार दृष्टि के धर्म जैसे कि बौद्ध धर्म से प्रभावित प्रजाओं से होता है। भारत मे भी लिपिप्रयोग सर्व प्रथम अशोक के शासन मे ही हुआ यह इसका सूचक है।

जैसे इस भाषा के बारे मे हमारा ज्ञान अत्यन्त मर्यादित है, वैसे इस प्रजा के निवास स्थान के बारे में इतना ही अज्ञान है। पिछले कुछ साल मे मध्य एशिया मे सशोधन होने से इयु प्रजा वहाॅ से होकर भारत मे आई इसका प्रमाण मिलता है, और इसकी कुछ तवारिखे भी तय हो सकती है। ई० पू० १४०० मे मेसोपोटेमिया मे मितन्नि प्रजा के अवशेषो मे आर्य देवताओं के नाम जैसे in-da-ra, u-ru-vana मिलते है, ई० पू० १८०० मे बेबीलोन के विजेता कासाइट की भाषा मे आर्य देवताओं के नाम जैसे Suriyas मिलते है, ये सब आर्य-इयु-प्रजा के एशियाई परिभ्रमण के सूचक है। ई० पू० २००० के अरसे मे इस प्रजा का एशियाई परिभ्रमण का आरम्भ हुआ और करीब पाॅच सौ साल के बाद वह अपने इण्डोइरानियन स्थान पर आ गये।

इयु प्रजा के आदिम निवास स्थान के विषय मे भी विवाद है। वस्तुतः, हमारे पास सामग्री इतनी कम है, कि उसका निर्णय हो नही सकता। किन्तु ख्याल तो अवश्य आ सकता है कि ये प्रजाये लिथुयानिया से लेकर दक्षिण रशिया के बीच के प्रदेश मे कही स्थिर रही होगी। यह ख्याल हम इयु गण के सर्वसाधारण शब्दो को लेकर Linguistic paleontology के आधार पर कर सकते है। कोई एक शब्द के आधार पर निर्णय करने के बजाय एक तरह का समग्र शब्दसमूह का अस्तित्व और दूसरी तरह का समग्र शब्दसमूह का अभाव हमको कुछ दिशा

सूचन अवश्य कर सकता है। इस विषय मे प्रो० बेण्डर अपने ग्रथ 'होम आव धी इण्डोयुरोपिअन्स' प्रीन्सटन, १६२२ मे लिखते है :

इण्डोयुरोपीअन गण की प्राचीन भाषाओ मे निम्नलिखित पशु, पक्षियो और वृक्षो के लिये व्यवहृत जो शब्द है वे समान नही —हाथी, गेडा, ऊँट, सिह, बाघ, बन्दर, मगर, तोता, चावल, बरगद, बॉस, ताड़।

किन्तु निम्नलिखित चीजो के लिये तो अधिकाश समान शब्द ही है—बर्फ, कड़ाके की सर्दी, ओस, बीच, पाइन, बर्च, वीलो, ओटर, बीवर, पोलकेट, मार्टन, बीवर, रीछ, भेड़िया, हिरन, खरगोश, चूहा, घोडा, बैल, भेड़, बकरी, सूअर, कुत्ता, गरुड़, बाज, उल्लू, जे (Jay), हस, बत्तक, चिडिया, सॉप, कछुआ, चींटी, मधुमक्खी इ इ ।

इसके आधार पर हम उसी स्थान की कल्पना कर सकते है जहॉ की आबोहवा इस प्रकार के प्राणी जीवन के अनुकूल थी। उससे आगे जाकर बिलकुल नियत स्थान की खोज करना हकीकत से बाहर जाकर कल्पना विहार करना होगा।

अब रही बात 'इन्डोयुरोपियन' नाम की। यह नाम पहले तो ऐसे दिया गया था—विश्व मे इन्डिया से लेकर यूरोप तक जिस परिवार की भाषाएँ बोली जाती है उस भाषापरिवार का नाम इन्डोयुरोपियन। आज तो इस परिवार की भाषाएँ इस सीमा से बाहर भी बोली जाती है जैसे अग्रेजी, जो अमेरिका और आस्ट्रेलिया मे बोली जाती है। जर्मन विद्वान इस परिवार को इन्डोजर्मेनिक कहते थे। कई भाषाविज्ञानियो ने एक शब्द बनाया * Wiros जो इयु शब्द ही है, उनका सस्कृत है वीर। इस भाषा के लिए 'आर्यन' नाम इस्तेमाल कर सकते है, यदि इस नाम की मर्यादा समझ ली जाय तो। ये नाम सूचक है मात्र भाषा के, इससे कोई विशिष्ट जाति से सबध नही। कई जगह यह भाषा बोलनेवाले अनेक जाति के लोग होगे, प्राचीनतम काल मे भी यह इतनी ही सच हकीकत हो सकती है। प्रस्तुत व्याख्यानो मे मैने आर्य शब्द इस्तेमाल किया है, उसका अर्थ इतना ही है, यह सिर्फ एक भाषा का अभिधान ही है। कोई नया नाम खोजने के बजाय यह पुराना शब्द इस्तेमाल किया है, सिर्फ उसके अर्थ की मर्यादा हमेशा ख़याल मे रखी जाय।

इस इन्डोयुरोपियन गण की पूर्वी बोली, और हमारे लिए विशेष महत्त्व की है इन्डोईरानियन। भारत की प्राचीन भाषा और ईरान की प्राचीन भापा मे असाधारण साम्य है। और इससे ही ऐसा माना गया है कि ये दोनो एक प्राचीन भापा की दो शाखाये है। वेद की प्राचीन भाषा से अवेस्ता की गाथाओ का जितना साम्य है इतना साम्य इन्डोयुरोपियन गण की कोई भी दो भाषाओ मे नहीं। ईरान शब्द भी प्राचीन शब्द * आर्या-नाम् का ही रूप है। आर्य का ष० ब० ब० > आर्यानाम्, प्राचीन फारसी मे 'एरान' और अर्वाचीन फारसी मे 'ईरान'। इन्डोयुरोपियन गण की किसी अन्य शाखा ने आज तक अपने प्राचीन नाम का इस तरह संरक्षण नहीं किया। भारत के आर्य और ईरान के आर्य पामीर के नजदीक किसी स्थल मे कुछ काल तक एकत्र रहे, और उसके बाद एक परिवार ईरान की ओर, और दूसरा भारत की ओर स्थिर होने लगा। जब ये लोग एकत्र रहते थे उस काल की उनकी भाषा को हम इण्डोईरानियन कहते है। यह इयु की एक बोली ही है, इसलिए इयु से साम्य होते हुए भी उनकी अपनी अनोखी विशेषताये भी है। इन्डोईरानयिन के, इस दृष्टि से कुछ व्यावर्तक लक्षण निम्न प्रकार के है।

इयु के ह्रस्व और दीर्घ 'ए' और 'ओ' सब इन्डो-ईरानियन मे ह्रस्व और दीर्घ 'अ' हो जाते है और इस प्रक्रिया से इयु के ये तीन स्वर—ह्रस्व और दीर्घ अ, ए, ओ—का भेद इन्डोईरानियन मे लुप्त हो गया है। यह ध्वनिविकास होते ही इन्डोईरानियन के रूपतत्र मे भी काफी परिवर्तन आ गया।

इयु घोप महाप्राण + अघोप अल्पप्राण > इ ईरा घोष अल्प-प्राण + घोष महाप्राण—उदा —bn+t > —bdn —(labh—t > lab dh-), आज्ञार्थ तृ पु. ए व उकारान्त होता है उदा स. a bʰarata, झेन्द-baratu, पुरानी फारसी baratuv

इन्डोईरानियन गण की दो प्राचीनतम शाखाएँ है वेद की भाषा, और अवेस्ता। इनका परस्पर साम्य कितना अधिक है यह निम्न-लिखित सर्वनाम के रूपाख्यान से स्पष्ट होगा।

	ए. व		ब व	
	स.	झेन्द्	स	झेन्द्
प्रथमा	ahám	azəm	vayám	vaém
द्वितीया (accented)	mā́m	mam	asmā́n	ahma
द्वितीया (unaccented)	mā	mā		
ष० चतुर्थी (unaccented)	me	me		
प० (accented)	máhyam	maibyā	asmākam	ahmākəm
पञ्चमी	mat	mat		

दीर्घकाल तक एकत्र रहने के बाद जब ये प्रजाए भिन्न हुईं तब उनकी भाषा और साहित्य की विकास धारा अलग-अलग हो गई। ईरान मे इनके साहित्य के दो विभाग हो सकते है।

१—प्राचीन फारसी यह लिखित स्वरूप मे प्राचीनतम शिलालेखो मे सम्राट दारिउस के काल मे ई० पू० ५२२ ४८६ मे मिलती है। हिटाइट के कुछ नमूनो को छोड़कर इन्डोयुरोपियन का यह प्राचीनतम लिखित साहित्य है।

२—अवेस्ता झरथुस्त्र के उपदेश का साहित्य इस भाषा मे सगृहीत किया गया है। किन्तु, इस साहित्य की सकलना देर से होती है सासानी काल मे ई० छठी शताब्दी मे। इसका प्राचीनतम विभाग गाथा। यह, ऋग्वेद से अधिक रहस्यवादी (mystical, philosophical) साहित्य है, किन्तु भाषादृष्टि से दोनो मे साम्य अधिक है।

भारत मे आये हुए आर्यो का प्राचीनतम साहित्य वेद है। भिन्न होने के बाद भी भारतीय आर्य और ईरानियन आर्य के भाषाइतिहास मे ठीक-ठीक साम्य रहा है। जैसी विकास रेखा प्राचीन फारसी और मध्यकालीन फारसी मे है वैसी ही वैदिक संस्कृत और पालि प्राकृतो मे है।

ऋग्वेद एक व्यक्ति या एक काल का साहित्य नही। जब आर्य प्रजाएं भारत मे आई तब उनके पास जो परपरागत मान्यताएं थी, देव-सृष्टि की जो कल्पनाएँ थी, और यज्ञयाग की जो पद्धतियॉ थी वह सब उनकी भाषा की तरह आर्य ईरानी काल की देन थी।

आर्य ईरानी निवासस्थान से भारत के उत्तरपश्चिम प्रदेशो मे आर्यो का आगमन क्रमश. आगे बढ़ती प्रजा का सूचक है। वेद मे ऐसे स्पष्ट उल्लेख नही है, जहॉ पता चले कि आर्यप्रजा अपना पुराना निवासस्थान छोडकर आगे बढ़ रही है। इससे सूचित होता है कि भारत मे आर्यों का भगीरथ कार्य था यहॉ उनके पहले जो प्रजाएँ स्थिर हो चुकी थी उनको हटाकर अपना आधिपत्य जमाना। इस काल मे होती है वेद की रचना। यह आर्य प्रजा— इन्डोयुरोपियन बोलती प्रजा— अपने अनेक परिभ्रमणों मे जहॉ गई है वहॉ विजयी होती है। उनके विजय की कुजी दो चीज मे रही है। एक है उनकी समाज-व्यवस्था, दूसरी उनकी प्रगतिशीलता। उनकी समाज व्यवस्था के दो महत्त्व के अग थे देवताओ को प्रार्थना करने वाले, उनको यज्ञ से संतुष्ट करने वाले पूजारी और दुश्मनो से लड़ने वाले वीर योद्धा, छोटे-छोटे नृपति, वीर नेतागण। उनकी प्रगतिशीलता है, हमेशा नये वातावरण के अनुकूल होना, नये-नये तत्त्वो को अपनी सस्कृति मे अपनाना। इस शक्ति का एक उदाहरण मोहेजोदड़ो के अवशेषो को देखने पर मिलता है। इस नगर का आयुष्य करीब एक हजार साल का था, किन्तु उस काल मे उनका व्यवहार, रहन सहन की पद्धति, घर बॉधना, व्यवसाय करना, वेशभूषा आदि मे इतने दीर्घ काल तक कुछ फर्क नही होने पाया था। उस प्रजा मे गतिशीलता का अभाव था। और यह आर्य प्रजा ? ये हमेशा बदलते रहे है, यह आर्य प्रजा, जो घूमती-फिरती पशुपालक प्रजा थी, जिसको घर बॉधने का, नगर बसाने का कुछ भी ज्ञान न था, जो शिल्प स्थापत्य से अनभिज्ञ थी वह भारत मे आने के पश्चात् कुछ ही काल मे, अन्य प्रजाओ से सीखकर, बड़े बड़े गणराज्य स्थापित करती है, नगर बसाती है, अनेक आर्येतर प्रजाओ से मिलकर अपनी संस्कृति को समृद्ध बनाती है।

आर्यो की समाजव्यवस्था का प्रभाव उनके साहित्य के निर्माण पर पड़ा। देवताओ को तुष्ट करने के लिए यज्ञप्रथा कम से कम आर्य

ईरानी काल जितनी प्राचीन तो है ही। यह यज्ञप्रथा आगे चलकर आर्य सस्कृति का केन्द्र बनती है। सिधु नदी और उसकी उपजीवक अन्य नदियो के प्रदेश मे फैलते आर्यसमूहो मे पुन पुन दुश्मनो के नाश के लिए, वीर पुत्रो की प्राप्ति के लिए, सामर्थ्य और समृद्धि के लिए, यज्ञ के पूजारीओ ने जिन मन्त्रों की रचना की वह है हमारा वेद साहित्य। यह साहित्य प्रधानत' यज्ञ को लक्ष मे रखकर ही लिखा गया है। यज्ञो के लिए उन विप्रो ने इन पद्यो की रचना की, इस लिये यज्ञ करनेवालो के चुने हुए पूजारी गण मे उपयुक्त शब्दप्रयोग, रूढियॉ इ० को ही वेद मे अधिक स्थान मिला। वेद को अच्छी तरह से देखने से मालूम होता है कि वेद आम प्रजा की रचना (popular poetry) नही है, पुरोहित का साहित्य (priestly poetry) है। 'ऋग्वेद रीपीटीशन्स' मे ब्लूमफिल्ड ने यह स्पष्ट बताया है कि ऋग्वेद मे करीब १।५ पाद का पुनरावर्तन ही हुआ है। इससे यह फलित होता है कि अमुक तरह के वाक्य और शब्द प्रयोग निश्चित स्वरूप से यज्ञयाग के निष्णात विप्रगणो मे प्रचलित थे, और जब कोई विप्र पद्य की रचना करता था तब वह उन्ही प्रचलित वाक्यो का व्यवहार करता था। ऋग्वेद का कवि बारबार कहता है· जैसे कोई सूथार रथ बनाता है वैसे मै अपना काव्य बनाता हूँ, रथ के भिन्न-भिन्न अंगो को इकट्ठा करके। वैदिक साहित्य प्राचीन आर्यो के सामाजिक जीवन के एक अग का आलेखन करता है। वह, विप्र का प्रतिनिधि साहित्य है। बड़े-बड़े सोम यज्ञ, श्रौतयज्ञ इ० मे व्यवहृत पद्यो की भाषा भी उस बडप्पन के अनुरूप होनी चाहिये, किसी तरह की ग्रामीण बोली इसमे घुसनी न चाहिये। यह दृष्टि उस विप्र गण के लिये स्वाभाविक ही थी। इस विधान को आधार मिलता है अथर्ववेद से। अथर्ववेद की सृष्टि ऋग्वेद से निराली है, रोज ब रोज के रीत रिवाज और जीवन व्यवहार की बाते और मान्यताये उसमे ठीक-ठीक प्रतिबिम्बित होती है। समग्र दृष्टि से अथर्ववेद के कुछ अश ऋग्वेद के समकालीन तो है ही। फिर भी, अथर्ववेद के शब्द और शब्दप्रयोग ऋग्वेद से काफी निराले है। जिन शब्दो को ऋग्वेद मे स्थान नही, वे शब्द अथर्ववेद मे व्यवहृत होते है। किन्तु थोड़े काल के बाद जब अथर्ववेद का पुजारी, अपनी लोकोपयोगिता और लोकप्रियता से क्षत्रिय राजाओ का महत्त्वपूर्ण सहायक बनने लगा तब विप्रो ने

अथर्ववेद पर भी अपना अधिकार जमा लिया, और अथर्व को अपने मे समा लिया, तीनो वेदो के साथ उसको भी मान्य वेद गिना गया। विप्रो के कब्जा जमाने के बाद अथर्ववेद को शिष्ट स्वरूप देने का, उसमे भी विप्र की महत्ता बढाने का, काफी प्रयत्न हुआ, और उसके फलस्वरूप अथर्ववेद की जो संहिता हमारे पास आती है वह विप्र की आवृत्ति है।

ऋग्वेद के सम्रहण मे ऋग्वेद की भाषा की एक नई आवृत्ति होती है। जब ऋचाओ का सहनन हुआ तब संहिताकार के समय की भाषा-परिस्थिति किसी न किसी रूप से ऋग्वेद मे प्रतिबिम्बित हुई। इस लिये ऋग्वेद मे कभी-कभी अन्यान्य बोलियो के रूप एक साथ मालूम होते है। जैसे 'र' और 'ल' की व्यवस्था। इण्डोयुरोपियन 'ल' का ईरानियन मे तो 'र' ही होता है, और इससे इयु 'र' भी इरानियन मे 'र' रह जाता है। ऋग्वेद के प्राचीनतम स्तर मे यह व्यवस्था चालू रही है, क्योकि ऋग्वेद की रचना अधिकाश भारत के उत्तरपश्चिम भाग मे की गई, और उस प्रदेश की बोलियो का ईरानियन से साम्य होना स्वाभाविक है। भारत की पूर्व की बोलियो मे तो 'र' और 'ल' के स्थान पर 'ल' का ही व्यवहार होता था, और यह 'ल' वाले शब्द भी ठीक-ठीक ऋग्वेद मे आ गये है। ऋग्वेद का 'चर्' <IE*K^{w}el-जो इरानियन मे भी (carăiti) रूप मे मिलता है वह अथर्ववेद तक चल् रूपमे भी मिलता जाता है। और IE* leubh-> लुभ् न इरानिअन मे मिलता है, न ऋग्वेद के प्राचीनस्तर मे, वह दसवे मडल मे— जो कुछ अर्वाचीन है— लोभयन्ति रूप मे मिलता है, इस 'ल' कार वाले धातु का प्राचीनस्तर मे अवकाश न था।

ऋग्वेद मे तृतीया ब व के जो अलग-अलग प्रत्यय एभि, ऐ मिलते है उनसे भी यह सूचन होता है कि अलग-अलग बोलियो मे व्यवहृत किये गये ये व्याकरण के प्रयोग ऋग्वेद के संहिताकार ने इकट्ठे कर लिये है। वेद मे अधिकतर प्रयत्न तो विप्रसमत शिष्ट भाषा की सुरक्षा करने का किया गया है, सिर्फ अन्यान्य बोलियो के ऐसे कुछ स्वरूप उसमे आ गये है। आर्यों के भारत मे आगमन के बाद, और उनके विकास के बाद आर्यभाषा तीव्र गति से विकासशील थी, किंतु उस विकास के फलस्वरूप अन्यान्य बोलियो मे परिणत हुए आर्यभाषा के स्वरूप का पता वेद से नहीं चलता।

कालक्रम से, वेद की भाषा समझनी भी मुश्किल बन गई। इससे विप्रो को तो वेद का आधिपत्य रखने मे सुविधा हो गई। ब्राह्मण काल का साहित्य यज्ञ सस्कृति की भाषा मे लिखा गया है, उसकी परम्परा वेद परम्परा की अनुगामी है। इससे शिष्टता का एक आदर्श खड़ा हुआ। उत्तर और मध्य देश के याज्ञिको की भाषा—आर्यो के सांस्कृतिक केन्द्र की भाषा—शिष्ट गिनी गई। इसी भाषा का अद्वितीय व्याकरण पाणिनि ने लिखा।

इस तरह से, सस्कृत के विकास मे विप्र और शिष्ट का प्रभाव है। वेद काल से लेकर भारत की अनेक बोलियाँ जो विप्रत्व और शिष्टता के वर्तुल से बाहर थी उसका स्वीकार कभी नही हुआ। यह बोलियाँ आप ही आप विकसती चली, शिष्टता के सहारे के बिना। जैन और बौद्ध धर्म ने इसको ई पू-पाँचवी शताब्दी से अपनाया, और उसके बाद भारतीय भाषाओ की विकासधारा का नया प्रवाह शुरू होता है।

ये धर्म पूर्व मे पैदा हुए। वैदिक और ब्राह्मण परम्परा से अलग उनकी आचार और विचार व्यवस्था, और उनको जन समाज को अपना दृष्टिकोण समझाने मे विशेष प्रयत्न करना पडा। इस प्रयत्न मे इनको पूर्व की बोली मे व्यवहार करना अनुकूल ही था, ताकि जिस प्रजा को उपदेश करना था वह प्रजा उनकी भाषा समझ सके। इन दो धर्मो का आश्रय मिलने स पूर्व की बोलियो को नया प्राण मिला, और उनका प्रवाह, जो अब तक शिष्टता के बल से अवरुद्ध था, अब एकदम गतिमान हो गया। पूर्व की बोलियो मे लोकप्रिय कथाये और उपदेश का साहित्य बढ़ता चला, और उनको प्राकृत जैसा जरा हलका नाम मिलने पर भी, यह भाषा सस्कृत को पूर्व से हटाने लगी।

प्राकृत भाषा के विकास का गहरा प्रभाव सस्कृत पर पडा। प्राकृत के विकास से सस्कृत लुप्त नही होती। स्वाभाविक तौर से यह ही होता कि किसी नये भाषा स्वरूप के विकास के बाद पुराना स्वरूप धीरे-धीरे नष्ट हो जाता। सस्कृत के मामले मे दूसरी बात हुई। सस्कृत भी और गतिमान हो गई। बुद्ध और महावीर से पहले आर्यो की सस्कृत भाषा अधिकतर यज्ञ और उनके अनुष्ठान और तत्त्वचिन्तन जैसे उच्च कक्षा के साहित्य को स्पर्श करती थी। शिष्टता के शिखर पर ही उसका व्यवहार होता था, वह दैनिक विषयो को नही छूती थी। जब प्राकृतो ने धर्म के अतिरिक्त प्रजाजीवन के व्यवहार की बातो को भी साहित्य

स्वरूप देने का आरम्भ किया तब वह एक स्वरूप से, सस्कृत की प्रतिस्पर्धी होने लगी। और मानो सस्कृत को अपने अस्तित्व के लिये प्राकृतो की तरह लोकप्रिय होने का आह्वान मिला।

सस्कृत ने इस आह्वान का योग्य उत्तर भी दिया। यज्ञयाग और उपनिषदो की चर्चा से आगे बढ़ कर, समाज के अनेक वर्गो मे अपना स्थान जमाने के लिये सस्कृत का साहित्य बहुलक्षी हुआ। अमुक विषय तक ही पर्याप्त न होकर अनेक लोकप्रिय (popular) विषयो मे भी सस्कृत का व्यवहार बढता चला। इस काल मे आर्य प्रजा ने उसकी सस्कृति समग्र भारत पर जमा ली थी, और सस्कृत का व्यवहार अनेक आर्य और आर्येतर लोक भी करने लगे थे। सस्कृत का क्षेत्र अब एकदम विशाल हो गया। अनेक तरह के साहित्य निर्माण का प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से संस्कृत के भाषास्वरूप मे भी कुछ परिवर्तन हुआ। जब कोई एक भाषा अन्यभाषी प्रजाओ से व्यवहृत होने लगती है तब उसके व्याकरण के स्वरूप की सकुलता कम होती जाती है, और सादृश्य का व्यापार बढ़ जाता है। अपवादात्मक विधान कम हो जाते है, शब्दो के अर्थ भी बदलने लगते है। सस्कृत भी इस तरह बदलती गई। किन्तु अब उसका व्यवहारक्षेत्र बढ गया और उसके बढने के साथ ही उसका शब्दकोष समृद्ध हो गया। प्राकृत भाषा के विकासक्षेत्र पर अपने बढ़ते हुए शब्दकोष के द्वारा सस्कृत ने अपना आक्रमण जारी रखा। इस काल के कई साहित्य स्वरूप ऐसे है जो बाहर से संस्कृत है, जिस पर सस्कृत का आवरण है, नीचे प्रवाह है प्राकृत का। यह साहित्य समाज के दोनो वर्ग मे—नागरिक और ग्राम्य प्रजा मे—सफल होता रहा। इसके आबाद नमूने है महाभारत जैसी विशाल रचनाये। वस्तुत यह महान ग्रथ के नीचे प्रवाह है प्राकृत भाषा का, उनका बाहरी स्वरूप है सस्कृत। भाषाविज्ञानी के लिए यह भाषास्वरूप एक महत्व के सशोधन का विषय है।

इस काल के बाद की उत्कर्षकालीन (classical) सस्कृत, सिर्फ शिष्टो की साहित्य रचना के फलस्वरूप है। सन्धि के कृत्रिम ध्वनि-परिवर्तन, नाम वाक्य की कृत्रिम रचनाये, विद्वद्‌भोग्य समास से भरा हुआ उत्कर्षकालीन संस्कृत साहित्य, भाषा के लिए कम वैज्ञानिक महत्त्व के है। वह तो सिर्फ विद्वानो की विद्वानो के लिए की गई रचनाये है। भारतीय भाषाविकास की प्रवाहधारा से उनका कोई सीधा सम्बन्ध नही।

२

प्राकृत के प्राचीन बोली विभाग

वेद और प्राचीन संस्कृत साहित्य की परंपरा के निदर्शन के बाद प्राकृतसाहित्य की परपरा की आलोचना, और उसकी भाषाशास्त्र की दृष्टि से कुछ जांच करना आवश्यक है। प्रधानतया प्राकृतसाहित्य के दो मुख्य अंग है। बौद्ध साहित्य और जैन साहित्य। दोनो का उगम एक ही काल मे और एक ही स्थल मे होते हुए भी, उनकी विकासधारा अलग है।

पालि साहित्य विपुल है। परपरा के अनुसार भगवान बुद्ध के उपदेशो की तीन आवृत्तिया उनके निर्वाण के बाद २३६ साल तक हुई। ये तीन आवृत्तियां राजगृह, वैशाली और पाटलीपुत्र की परिषदो मे संपन्न हुई। इन आवृत्तियो की ऐतिहासिकता विवाद का विषय होते हुए भी, इनसे एक बात स्पष्ट है कि बुद्ध के उपदेशो को उनके अनुयाइयो ने दो तीन सदियो मे सकलित किये। इस सकलन मे मूल के अतिरिक्त भाव और भाषा आ जाने की सभावना तो है, किन्तु उसके साथ यह भी तो मानना पडता है कि उपदेश की स्मृति विद्यमान थी, और मूल से ठीक-ठीक निकट ऐसा विश्वसनीय साहित्य सगृहीत हुआ।

इससे यह मानना पडेगा कि हमारे पास प्राचीनतम प्राकृत साहित्य के भाषा स्वरूप के अभ्यास के लिए ई० पू० की पाचवी सदी से लेकर महत्त्व की सामग्री विद्यमान है। अब, जब हम इस साहित्य को अन्वेषण की दृष्टि से देखते है तब उसकी भाषा के बारे मे अनेक तरह की शकाये पैदा होती है। परपरा के अनुसार, बुद्ध के उपदेश भिन्न-भिन्न विहारो मे, मठो मे, भिक्षुओ की स्मृति मे सचित थे। ये भिक्षुगण भी भिन्न-भिन्न प्रान्त के निवासी थे। परपरा के अनुसार दूसरी वाचना के समय दूर-दूर के प्रदेश के भिक्षु उपस्थित थे। अवन्ति कोशाम्बी, कन्नौज, साकाश्य, मथुरा, और वहाँ से आनेवाले भिक्षुओ की निजी भाषा भी भिन्न भिन्न होगी। उत्तर और पश्चिम की बोलियाँ पूर्व से ठीक-ठीक भिन्न थी। विनय का जो सकलन किया गया, उसमे इन सब भिन्न-भाषी भिक्षुओ का अपना हिस्सा

भी होगा, और उसके फलस्वरूप भाषापरिवर्तन भी हुआ होगा। मूल के उपदेश थे कोशल के राजकुमार, और मगध के भिक्षु की भाषा से, शिष्ट मागधी मे। जब कोई नागरिक दूसरे प्रान्त की बोली बोलता है, तब वह उस प्रान्त की शिष्ट बोली ही बोलेगा, वहां की ग्रामीण बोली से वह परिचित न होगा। दूसरी वाचना के संहनन मे अन्यान्य भिक्षुगण जो कि पश्चिम से आये थे, उनका प्रभाव मूल उपदेश की इस शिष्ट मागधी पर पड़ा। उसके बाद यह साहित्य लिपिबद्ध होता है। अशोक के समय मे ही यह साहित्य कुछ अश मे लिपिबद्ध हो चुका था यह बात हमको भाब्रु के लेख से मिलती है। किन्तु, अधिकाश बौद्ध साहित्य लिखा गया सिहलद्वीप मे। बौद्ध साहित्य का यह धर्मदूत, उज्जैन मे जिसका बचपन बीता, वह राजकुमार महेन्द्र, सम्राट अशोक का पुत्र था। बौद्ध साहित्य के विकास मे ये छोटी छोटी हकीकतें भाषादृष्टि से खूब सूचक है। ये हकीकते सामने रखकर अब निर्णय करना होगा कि बौद्ध धार्मिक साहित्य की पालि भाषा किसी एक भौगोलिक प्रदेश की प्रचलित भाषा हो सकती है? विद्वानो ने पुन पुन पालि को kunst sprache 'सस्कृति की भाषा' कदाचित् 'मिश्र-भाषा' भी कहा है। संस्कृति की भाषा के मूल मे भी हमेशा किसी न किसी प्रदेश की बोली होती है, इसलिए पालि के तल मे किस बोली का प्रभाव है इसका विवाद किया जाता है। वस्तुत प्राचीनतम बौद्ध साहित्य भी, निर्वाण के बाद करीब चार सौ साल के बाद ही लिपिबद्ध होता है, और वह भी अनेक तरह के भिक्षुओ की बोलियो के प्रभाव के बाद। इससे यह मानना स्वाभाविक हो जाता है कि, जो पालि साहित्य हमारी समक्ष है वह पूर्व और पश्चिम की भाषाओ के मिश्रण के बाद, धार्मिक शैली मे लिखा गया है, स्थल वा काल की स्पष्ट भेद-रेखाये उसमे से मिलनी मुश्किल है।

प्राकृत साहित्य का दूसरा अग है जैन आगम साहित्य। महावीर भी पूर्व मे पैदा हुए, और पूर्व की भाषा मे ही उन्होने धर्मोपदेश किया। वैशाली के उपनगर मे उनका जन्म, और घूमे मगध मे। जैन परंपराके अनुसार महावीर ने अपना उपदेश उनके पट्टशिष्यो को समझाया, और वे पट्टशिष्य—गणधर—उस उपदेश के संहननकार बने। वह उपदेश मगध की प्रचलित भाषा मे था। बुद्ध भी मगध मे घूमे, किन्तु वह परदेसी थे। उनका जन्म था कोसल मे और शिक्षा कोसल

मे पाई थी। महावीर मगध के -उत्तर मगध के–निवासी थे। यह भेद उनकी भाषा के भेद समझने के लिए स्पष्ट करना आवश्यक है।

गणधरो से सगृहीत महावीर वाणी हमको तीन वाचना के बाद ही मिलती है। जैसे बौद्ध परम्परा मे तीन वाचनाये है, वैसे जैन परम्परा मे भो तीन वाचनाये है। मुझे तो यह एक अत्यत विलक्षण अकस्मात् मालूम होता है। दोनो की ऐतिहासिकता भी विवादास्पद है। प्रथम वाचना महावीर निर्वाण के १६० साल के बाद पाटलीपुत्र मे होती है। परपरानुसार वीर निर्वाण के १५० साल के बाद मगध-पाटलीपुत्र-मे भयानक अकाल पड़ा, और भद्रबाहु प्रभृति जैन श्रमणो को वहा से दूर चले जाना पडा, आत्मरक्षा के लिए। कुछ श्रमण वहा रहे भी। अकाल के बाद मालूम हुआ, ऐसे आघातो से स्मृतिसंचित उपदेश नष्टप्राय होते जायेगे, उनको व्यवस्थित करना आवश्यक है। तदनुसार पाटलीपुत्र मे जैन श्रमण सघ की परिषद् मिली, और आगम साहित्य की व्यवस्था की गई। यह हुआ करीव ई० पू० की चौथी सदी मे। इस परिषद् के बाद करीब आठ सौ साल तक आगम साहित्य की कोई मरम्मत नही होती। दूसरी परिपद् मिली मथुरा मे, ई० की चौथी सदी मे। उसके दो सौ साल के बाद तिसरी परिषद् मिलती है। देवर्धिगणि उसके प्रमुख थे। ई० की छट्ठी शताब्दी की इस आखिरी परिपद् के समय अनेक प्रतियो को मिलाकर आधारभूत पाठ निर्णय करने का प्रयत्न होता है। भिन्न-भिन्न प्रतियो को मिलाकर जब नई प्रति लिखी जाती है, तब साधारणतया, शुद्ध पाठ के बजाय अत्यत मिश्रित पाठपरपरा खड़ी होती है। जैसे महाभारत के टीकाकार नीलकठ लिखते है—

बहून्समान्हृत्य विभिन्नदेश्यान् कोशान्विनिश्चित्य च पाठमग्र्यम्।
प्राचां गुरूणामनुसृत्य वाचमारभ्यते भारतभावदीप ॥

इससे नीलकंठ के पाठ को स्वीकारने मे महाभारत के सपादक को खूब सावधानी रखनी पडती है।

परपरानुसार, आगम साहित्य मे महावीर का उपदेश सचित है, और उस साहित्य की भाषा को अर्धमागधी कहते है। खुद आगम साहित्य मे इस नामका उल्लेख आता है। जिस काल मे इस भाषा मे उपदेश दिया गया, और जिस काल मे उसकी साहित्यिक सघटना हुई इन दोनो के बीच करीब एक हजार साल का अतर है, और यह हकी-

कत ही भाषाशास्त्री को निराश करने के लिए काफी है। यह सत्य है कि स्मृतिसंचित उपदेश- साहित्य- काल के बदलने पर भाषा भी बदलते है। बौद्ध साहित्य की वाचनाएँ बुद्ध के निर्वाण के बाद पांच सौ साल मे पूरी होती है, आगम साहित्य की वाचनाये महावीर के निर्वाण के बाद एक हजार साल के बाद पूरी होती है। इस दृष्टि से सभव है कि आगम साहित्य की भाषा पिटको से अर्वाचीन हो। किन्तु, इसमे कुछ तारतम्य भी है। स्थल दृष्टि से जितने आघात पालि साहित्य पर होते है उतने आगम साहित्य पर नहीं होते। पिटक लिखे गये सिहलद्वीप मे, उनको ले जानेवाला उज्जैन से प्रभावित, उनकी रचना हुई थी पाटलीपुत्र मे। अलबत्त, यह सब होता है अल्पसमय मे, बुद्ध के उपदेश की स्मृति भी ताजी होगी उसमे शक नहीं। जब सम्राट अशोक अपने लेख मे कहते है कि ये धम्मपलियाय 'स्वयं भगवता बुद्धेन भासिते' तब उनको न मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं। प्रादेशिक बोलियो का उस भाषा पर कुछ प्रभाव होते हुए भी मूल का अर्थ व्यवस्थित रहा होगा। आगम साहित्य मे कुछ अलग व्यवस्था है। उसमे बहुत सा साहित्य नष्टप्राय हो गया होगा। किन्तु, जो कुछ बच गया उसकी भाषा इतनी मिश्रित नही है, जितनी पालि साहित्य की है। आगम साहित्य के प्राचीनतम स्तरो मे मगध की भाषा का कुछ खयाल मिलता है, और स्पष्टता से भी। इसका कारण यह हो सकता है कि जैन धर्म का प्रसार परिमित था, सघ और विहार इतने विपुल न थे, जितने बौद्धो के, और, परंपरागत साहित्य की सुरक्षा करने मे जैन साधु संघ अधिक जागृत भी था। इन सब कारणो से, सामान्य दृष्टिसे पालि से अर्वाचीन होते हुए भी, अर्धमागधी साहित्य स्थल दृष्टिसे अधिक आधारभूत है।

बुद्ध और महावीर के काल की भाषापरिस्थिति समझने के लिए धार्मिक साहित्य को छोडकर यदि हम शिलालेखो के प्राकृतो का निरीक्षण करें तो अधिक आधारभूत सामग्री प्राप्त होती है। हमने देखा कि जो अर्धमागधी आगमसाहित्य हमारी समक्ष आता है वह काल-क्रम से ठीक ठीक परिवर्तित स्वरूप से आता है, यद्यपि पूर्व की बोली के कुछ लक्षण उसमे है। पालि साहित्य मे भी प्राचीन तत्त्वो की रक्षा होती है, किन्तु पूर्व की अपेक्षा उसमे मध्यदेश का अधिक प्रभाव है। इसलिए इस साहित्य से प्राचीन बोलियो के आधारभूत प्रमाण निकालना मुश्किल

हो जाता है। इसमे हमको अधिक सहाय तो सम्राट अशोक के शिला-लेख—जो ई० पू०२७०–२५० के अरसे मे लिखे गए है—से मिलती है। उनके विशाल साम्राज्य की फैली हुई सीमाओ पर खुदवाये गये इन शिलालेखो को सचमुच ही भारत का प्रथम लिग्वीस्टीक सर्वे का नाम मिला है। अशोक ने ये शिलालेख उनके धर्म को फैलाने के लिए व उनके राज्याधिकारीओ को उनकी दृष्टि समझाने के लिए खुदवाये। यद्यपि ये शिलालेख एक ही शैली मे लिखे गए है, फिर भी उनकी भाषा मे स्थलानुसार भेद मालूम होता है। दूर उत्तरपूर्व मे शाहबाझगढी और मानसेरा मे लिखे गए लेख दक्षिण-पश्चिम के गिरनार के लेख से भाषा-दृष्टि से भिन्न है। इन शिलालेखो के सभी भाषाभेद यद्यपि समझाना मुश्किल है तो भी ये शिलालेख तत्कालीन भाषापरिस्थिति समझने के लिए एक अनोखा साहित्य है। ये लेख लिखे गए ई० पू० के तीसरे शतक मे, और उनकी भाषा है अशोक की राजभाषा, उनके administration और court की भाषा। राजभाषा हमेशा बोलचाल की भाषा से कुछ प्राचीन (archaic) ढग की होती है। उससे उसकी शिष्टता निभती है। ई० पू० के तीसरे शतक की राजभाषा, ई० पू० के पॉचवे शतक कि पूर्वी बोलियो से अधिक भिन्न न होगी ऐसा अनुमान करने मे खास बाधा नहीं। इससे, अशोक की भाषा का अध्ययन हमको बुद्ध और महावीर की समकालीन भाषा के निकट ले जाता है। भाषादृष्टि से अशोक के लेख चार विभाग मे बॉट सकते है—उत्तर पश्चिम के लेख, गिरनार का लेख, गगा जमना से लेकर महानदी तक के लेख, और दक्षिण के लेख। जिस प्रदेश की राजभाषा से अशोक की राजभाषा खास तौर से भिन्न न हो, अथवा जहॉ अशोक की राजभाषा आसानी से समझी जा सकती हो वहॉ अशोक के लेख अपनी निजी पूर्वी बोली मे ही लिखे जायॅ यह स्वाभाविक अनुमान हो सकता है। इस दृष्टि से गगा जमुना से लेकर महानदी तक के उनके लेख कुछ-कुछ भेद छोडकर अशोक की राजभाषा मे ही लिखे गए है। किन्तु जो प्रदेश दूर दूर के है, जहॉ की भाषा अशोक की राजभाषा से अत्यन्त भिन्न है, वहॉ के लेख उसी प्रदेश की भाषा से अत्यन्त प्रभावित होते है, ताकि वहॉ के लोग अशोक के अनुशासन को अच्छी तरह से समझ सके। उत्तर-पश्चिम के लेख वहॉ की बोली के नमूने है। गिरनार का शिलालेख

सौराष्ट्र की बोली का- यद्यपि यहाँ मध्यदेश का काफी प्रभाव मालूम होता है—पुरोगामी है। दक्षिण मे परिस्थिति जरा अलग है। दक्षिण की भाषा आर्य भाषा से बिलकुल भिन्न होने वहाँ की भाषा का कोई प्रभाव अशोक की भाषा पर जम नही सकता। अधिकांश ये लेख पूर्व की राजभाषा मे ही लिखे गए है, जो कुछ भेद नजर मे आता है वह पश्चिम का असर होने से मालूम होता है। इससे इनकी भाषा का साँची, बैराट और रूपनाथ के लेख से कुछ साम्य मिलता है।

अशोक के लेखो मे बोली भेद का जो निदर्शन होता है उसको हम पूर्वनिदर्शित साहित्य के विभाजन के साथ मिला सकते है। वैदिक साहित्य, साहित्य का प्राकृत और अशोक के लेख, इन तीनो को मिलाकर हम बुद्ध और महावीर के समय की भाषा का खयाल थोडा बहुत स्पष्ट कर सकेगे। अशोक के उत्तरपश्चिम के लेखो के साथ भारत के बाहर मिले हुए प्राकृत साहित्य का भी सबध है। गोशृग की गुफा से फ्रेन्च यात्री द्यु त्र्य द ह्राँ को खरोष्ठी लिपि मे जो धम्मपद मिला वह प्राकृत धम्मपद के नाम से प्रसिद्ध है। शायद यह उत्तरपश्चिम मे ही लिखा गया होगा ऐसा माना जाता है। उसका काल ई० की दूसरी सदी गिना जाता है। उत्तरपश्चिम की कुछ विशेषताएँ इस धम्मपद मे भी पाई जाती है, और वे अशोक के यहाँ के लेखो मे भी मिलती है। ईरानीय बोलियो की कुछ विशिष्टताएँ भी इनमे मौजूद है जो भौगोलिक दृष्टि से स्वाभाविक ही है। उसके बाद, सर ओरेल स्टाइन को चाइनीज़ तुर्कस्तान से मिले हुए कुछ खतपत्र भी इसके साथ गिनने चाहिए। ये खतपत्र ई० के तीसरे शतक मे लिखे गए है। यह साहित्य खोटन—कु स्तान—की सरहद से, जगह का नाम है निय—प्राचीन नाम चडोत—खरोष्ठी लिपि मे लिखा हुआ मिलता है। इसको निय प्राकृत के नाम से भी जानते है। यह साहित्य राजव्यवहार के लिए लिखा गया है, और उसकी भाषा से मालूम होता है कि उसका उद्भव पेशावर के नजदीक ही हुआ होगा। इसकी भाषा का सबध, एक ओर से द्यु त्र्य द ह्रा से और दुसरी ओर से वर्तमान दरद भाषाओ से, खास करके तोरवाली से, और अशोक के उत्तरकालीन खरोष्ठी लेखो से है। गिरनार के लेख की भाषा का सबध साहित्यिक पालि से है, उसका कारण यही हो सकता है कि साहित्यिक पालि का अधिक संबंध मध्यदेश की भाषा से है, और गिरनार के लेख की भाषा पर जो

मध्यदेश की भाषा का प्रभाव है वह उनको पालि की ओर खिचता है। गगा जमना से लेकर महानदी पर्यन्त के पूर्व के शिलालेखो की भाषा से सबंध है नाटको की मागधी का। दक्षिण के आलेख आर्येतर भाषा-भाषी प्रजा के बीच मे लिखे गए है, इसलिए प्रधानत ये आलेख पूर्व के आलेखो की भाषा से तात्त्विक दृष्टि से भिन्न नही, और जो कुछ भिन्नता मालूम होती है वह भिन्नता उनको जैनो की अर्धमागधी की ओर खिच जाती है। कुछ अश से बैराट, सॉची और रूपनाथ के लेख भी इनसे साम्य रखते है यह बात आगे सूचित की गई है। साहित्यिक प्राकृतो और लेखो के प्राकृत का संबध हमको तत्कालीन बोली विभागो का कुछ ख्याल अवश्य स्पष्ट कराता है। अलबत्त, यह भाषाचित्र कितना अपूर्ण है, उसमे कितने शंकास्थान है, उसका ख्याल तो जब हम यह विविध भाषासामग्री का विवरण करेगे तब ही आयगा।

प्राचीन बोली विभागो के अभ्यास मे कुछ दिशासूचन नाटको के प्राकृत से भी मिलता है। सस्कृत नाटको मे प्राकृत का प्रयोग करने की प्रणालिका सस्कृत नाटको के जितनी ही पुरानी है। नाट्यशास्त्र के विधानो से पूर्व ही नाटको मे विविध पात्रो के लिए विविध प्रकार के प्राकृतो का प्रयोग करना ऐसी रूढि होगी। कौन से पात्र किस तरह का प्राकृत का व्यवहार करे इस विषय मे जो निर्णय किए गए है उसका प्राचीन बोली विभाजन से कुछ सबंध है? सस्कृत नाटक, जिस रूप मे वह हमारे सामने है उसको क्या प्राचीन लोक जीवन का चित्र गिना जा सकता है? सिल्वॉ लेव्ही ने ठीक ही कहा है कि काव्य और आख्यानसवाद (Epic) को साहित्य से तख्तो पर ले जाने का जो प्रयोग वही है सस्कृत नाटक। उसका समर्थन करते हुए, उनके शिष्य ज्यूल् ब्लोखने भी ठीक ही लिखा है कि अगर हम सस्कृत नाटक को लोक जीवन का प्रतिबिंब मानेगे तो भ्रान्ति होगी। और खास तौर से संस्कृत नाटक मे भाषा की जो रूढियॉ है उनका तो प्रत्यक्ष जीवन से कोई सबंध नही। प्रधानतया तीन भाषाओ का व्यवहार संस्कृत नाटक मे होता है—सस्कृत, शौरसेनी और मागधी। शिष्टजन संस्कृत म व्यवहार करते है, शिक्षित स्त्रीवर्ग और अशिक्षित पुरुषवर्ग शौरसेनी मे व्यवहार करते है, और जिनकी मजाक करनी है, जो नीच कुल के है, वे मागधी मे व्यवहार करते है। ये विभाग क्या किसी बोली-

भेद के विशिष्ट व्यंजक हो सकते है ? शौरसेनी उच्चकुल की स्त्रियो और मध्यमवर्ग के पुरुषो की भाषा नही, किन्तु वह सूचक है मथुरा मे विकसित नटवर्ग की बोलचाल के शिष्ट प्रतीक की। पूर्व के लोक, मध्यदेश की अपेक्षा हमेशा असंस्कृत और अशिष्ट माने जाते थे, इसलिए जिस पात्र को नीच मानना हो, जिसकी मजाक करने की हो उसके मुख मे मागधी रखना एक रूढि ही बन गई। प्राचीनतम नाटको मे, और खास करके अश्वघोष के नाटको मे उत्तरकालीन नाटकों की अपेक्षा, अन्य प्रकार की प्रणाली दिखाई देती है। अश्वघोष के नाटक कुशानकाल की ब्राह्मी में लिखे हुए मालूम होते है, और उनका समय है ई० का दूसरा शतक। इन प्राचीन नाटकों की भाषाप्रणाली, उत्तर-कालीन नाटको से कुछ भिन्न है। उत्तरकालीन नाटको मे अनुपलब्ध, किंतु भरतविहित, नाटको की अर्धमागधी भी यहाँ प्राप्त होती है। यहाँ शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी के प्राचीन स्वरूपो का प्रयोग किया गया है। तदनन्तर, भास के नाटको मे प्राचीन प्राकृतो का व्यवहार मिलता है, और प्राकृतो का वैविध्य देखने को मिलता है शूद्रक के मृच्छकटिक मे, यद्यपि शूद्रक का प्राकृत भास से ठीक ठीक अर्वाचीन है। भारत के बाहर जो प्राकृते मिलती है उनसे एक विशिष्ट दिशा-सूचन होता है। नियप्राकृत के व्याकरण का स्वरूप अत्यंत विकसित है। जो विकास अपभ्रंश काल मे भारत मे होता है वह विकास ई० के दूसरे और तीसरे शतक के इस नियप्राकृत मे होता है। इन प्राकृतो का ध्वनिस्वरूप प्राचीन ही है, सिर्फ व्याकरण का स्वरूप अत्यंत विकसित है। इससे अनुमान तो यही होता है कि भारत के साहित्यिक प्राकृत प्रधानतया रूढिचुस्त (conservative) थे, वैयाकरणो के विधि-विधान से ही लिखे जाते थे, और संस्कृत को आदर्श रखकर केवल शिष्टस्वरूप मे लिखे जाते थे, किन्तु संस्कृत के प्रभाव से दूर जो प्राकृत लिखे गये वे अधिक विकासशील थे।

प्राकृतो के अभ्यास मे हमे यह देखना होगा कि उसमे भी शिष्टता का प्रभाव कितना है, और हम तत्कालीन बोलचाल से कितने दूर वा निकट है।

प्राकृतो के प्राचीनतम स्वरूप का खयाल पाने के लिए हमको साहित्यिक प्राकृत, लेखो के प्राकृत, नाटको के प्राकृत और भारत बाहर के प्राकृतो का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करना होगा, सब मे से अंशतः

सहायता मिलेगी। इन सब मे से लेखो के प्राकृत तत्कालीन भाषा स्वरूप के खयाल को विशद करने मे अधिक सहायकारक है, इस वास्ते उनको केन्द्र मे रखकर बुद्ध और महावीर के काल की भाषा-परिस्थिति का कुछ चित्र उपस्थित होगा।

उत्तरपश्चिम की भाषा का खयाल हमको मानसेरा और शाहबाझगढी के लेखो से मिलता है। तदुपरात भारत बाहर के प्राकृत और उत्तरकालीन खरोष्ठी लेखो का सबध भी उत्तर के साथ ही है।

ऋ का विकास दो तरह से होता है—रि, रु, क्वचित् 'र' भी होता है। इस 'र' के प्रभाव से अनुगामी दत्य का मूर्धन्य शाहबाझगढी मे होता है, मानसेरा मे ऐसा नहीं होता।

शाह० मुग, किट, ग्रहथ, वुढेषु,

मान० भ्रिग, वुध्रेसु (वृद्धेषु)।

प्रधानतया स्वरान्तर्गत असयुक्त व्यजन मूल रूप मे ही रहते है। निय प्राकृत मे कुछ विशेष परिवर्तन होते है। स्वरान्तर्गत क च ट त प श स का घोषभाव होता है, और इन घोषवर्णो का घर्षभाव होता है। यह घटना व्यंजनो के सपूर्ण नाश के पूर्व की आवश्यक अवान्तर अवस्था है.

अवकाश—[1]अवगज, प्रचुर—प्रशुर, कुक्कुट—ककुड, कोटि—कोडि यह विशिष्टता भारत के खरोष्ठी लेखो से भी मिलती है। निय प्राकृत मे अशोक के लेखो से अधिक विकसित भूमिका है, इससे अधिकांश स्वरान्तर्गत महाप्राणो का 'ह' होता है—'एहि, लिहति (लिखति), समुह, प्रमुह, सुह, अमहु (अस्मभ्यम्), तुमहु, लहति (लभन्ते), परिहष (परिभाषा), गोहोमि, गोम, गोहूम (गोधूम)।

प्रधानतया श ष और स व्यवस्थित रूप से पाये जाते है शाह० मान०,

दोष, प्रियदशि, शत, ओषढिनि,इ इ।

-य जिसका अन्त भाग है ऐसे संयुक्त व्यजनो मे -य का लोप होता है—

शाह० मा० कलण (कल्याण-), कटव (कर्तव्य-),

शाह० अपच, मान० अपये (अपत्य),

शाह० एकतिए, मान० एकतिय (-त्य),

१—शब्द के ऊपर दण्ड '।' घर्षत्व सूचक है।

निय प्रा० ज्य रज (राज्य), जेठ (ज्येष्ठ-),
द्य अज, खज,
ध्य वि-ति,
भ्य अबोमत (अभ्यवमत-)
व्य दद्व्यो, -वो,
श्य अवश, नशति,
ष्य करिशदि, मनुश,

श्य, ष्य, का यह विकास उत्तर मे सार्वत्रिक है—

अशोक मे अरभिशति, मनुश, अनपेशति, प्राकृत धम्मपद मे भी देवमनुशन।

रयुक्त व्यजन यथास्वरूप रहते है—

शाह० मान प्रज, श्रमन, ध्रम, द्रशन, अपवाद शाह० दियढ, मान० ङियढ(द्वि-अर्ध-)।

निय अर्जुनम, अर्थ, गर्भ, विसर्जिद, अर्ग (अग्र-) व्यग्र (व्याघ्र)।

र लोप के जो कुछ उदाहरण मिलते है वे सभवत पूर्व से आगन्तुक शब्द हो सकते है, उनके दोनो ही स्वरूप [र युक्त और र लुप्त साथ ही मिलते है, जो इस अनुमान को साधार करते है सव (सर्व,) अध, अढ (अर्ध)।

सयुक्त व्यजनो मे र का स्थानपरिवर्तन उत्तरपश्चिम की विशिष्टता है। अशोक मे और प्राकृत धम्मपद मे उसके उदाहरण मिलते है, निय प्राकृत मे वा उत्तरकालीन खरोष्ठी आलेखो मे यह प्रक्रिया दृष्टि-गोचर नही होती।

शाह० मान० ग्रभगर, ध्रम, क्रम, द्रशन, प्रुव,

धु त्र्य द् हॉ ' द्रुगति, द्रुमेधिनो, द्रुध, प्रवत,

किन्तु निय मे उनके उदाहरण कम है त्रुभिछ (दुर्भिक्ष)।

ल युक्त सयुक्त व्यंजनो का लोप अशोक के उत्तर पश्चिम के लेखो मे होता है, किन्तु निय मे प्राचीन रूप ल युक्त मिलते है

शाह० मान० अप, कप।

निय' जल्पित, अल्प, जल्म (जाल्म-), शिल्पिगं।

सामान्यतया त्व और द्व के अशोक के आलेखो मे त (गिरनार में त्प) और दुव (गिरनार मे द्व, शाहबाझगढी मे ब) होते है। वैदिक उच्चारण मे जहा त्व और द्व के उच्चारण द्विमात्रिक (dissyllabic) तुम्र,

द्वुअ होते थे वहां स्वाभाविकतया त और द मिलते है,और द्वि का उच्चारण एकमात्रिक monosyllabic होने से उसका बि होने की शक्यता है। नियप्राकृत मे और उत्तरकालीन खरोष्ठी आलेखो मे भी त्व > त्प > प होता है

नियचपरिश (चत्वारिंशत्),

खरोष्ठी आ० सप- (मत्व-), एकचपरिशइ (एकचत्वारिंशत्),

नियप्राकृत मे द्व के ब और द्व दोनो मिलते है—बदश, बिति, द्वदश, द्वि, भद्व, द्वर।

क्ष और त्स के छ और स होते है। इनमे छ पश्चिमोत्तर की विशेषता है, स तो सब आलेखो की सामान्य प्रक्रिया है।

शाह० मान० मोछ (मोक्ष) चिकिसा (चिकित्सा),

अपवाद शाह० खुद्रक, मान० खुद (क्षुद्र-)।

नियप्राकृत मे क्ष का छ होता है किन्तु त्स वैसे ही रह जाता है।

निय प्रा० क्ष छेत्र, योगछेम, भिछु, दछिन,

अपवाद खोरितग (क्षुर-), भिषु (भिक्षु-)

त्स संवत्सर, वत्स,

अपवाद त्स ओसुक (औत्सुक्य-)।

स युक्त सयुक्त व्यजन क्वचित् अनुगामी दत्य कि नति करता है, क्वचित् दत्य बच भी जाता है। दूसरे आलेखो कि अपेक्षा वह नतिभाव उल्लेखनीय है।

शाह० मान० ' ग्रहथ, अस्ति, उठन (उस्थान,-),

शाह० : अस्त, विस्त्रिटेन (विस्तृतेन),

मान० . अढ (अष्टन्),

शाह० के आलेख मे दंत्य और मूर्धन्य की नियतता नहीं, जैसे स्रेस्तमति, स्रेठम्, अस्तवष (मान-अठवष), इससे अनुमान हो सकता है कि वहा मूर्धन्यो का उच्चारण वर्त्स्य होगा।

स्म > स्व > स्प। सप्तमी ए व का स्मि (स्मिन्) होता है। स्पग्रम (स्वर्गम्)।

निय प्राकृत मे स्म > ष्म, और सप्तमी ए व. का ष्मि होता है। तदनुसार खरोष्ठी आलेखो मे भी। प्राकृत धम्मपद मे तीनो रूप—स्म, स्व और स मिलते है ' अनुस्मरो, अस्मि, स्वदि, प्रतिस्वदो,-स

(सप्तमी ए० व० मे) अस्मि लोके परस च। इससे मालूम होता है कि पश्चिमोत्तर मे सप्तमी विभक्ति के प्रयोग मे काफी विकल्प विद्यमान थे।

व्याकरण की दृष्टि से इस विभाग की एक दो हकीकते खास उल्लेखनीय है। सबधक भूतकृदतका प्रत्यय यहां त्वी है। वेद मे इस प्रत्ययका काफी प्रयोग मिलता है। नियप्राकृत मे भी ति मिलता है श्रुनिति (श्रुत्वा), अप्रुछिति (अपृष्टवा)। प्राकृत धम्मपद मे भी उपजिति, परिवजेति। उल्लेखनीय बात तो यह है कि यहा सामान्यत त्व का त्प होते हुए भी भूतकृदत मे त्व चालू रहता है। हेत्वर्थ का प्रयोग अशोक मे और नियप्राकृत मे–'नये' है दमनये। अन्यत्र तवे मिलता है। निय मे तुम् के कुछ रूप मिलते है कर्तु, अगन्तु।

यह पश्चिमोत्तर विभाग मे अकारान्त नामो के प्रथमा ए० व० के दोनो प्रत्यय - ए और - ओ प्रचलित मालूम होते है। प्रधानत' शाह० मे -ओ है, मान० मे- ए। निय प्राकृत मे भी- ए अधिक प्रचलित है। उत्तरकालीन खरोष्ठी लेखो मे तो दोनो का प्रयोग है, सिन्धु नदी के पश्चिम के लेखो मे- ए, अन्यत्र -ओ। प्राकृतधम्मपद मे -ओ और -उ मिलते है, -उ अधिक अर्वाचीनता के प्रभाव का सूचक है। निय प्राकृत मे पंचमी ए० व० का - आत का भी – ए प्रचलित है ' तदे, चडोदे, गोठदे, शवथदे। हम आगे देखेगे कि यह -ए प्रत्यय मागधी की विशिष्टता माना जाता है।

ध्वनि की अपेक्षा निय प्राकृत के व्याकरण का स्वरूप अत्यंत विकसित है। भारत के अन्य प्राकृत साहित्य पर सस्कृत का प्रभाव गहरा है, किन्तु निय प्राकृत भारत बाहर सुरक्षित होने से शायद इस प्रभाव से मुक्त रहा, वही उसका कारण हो सकता है। निय प्राकृत का काल ई की तीसरी सदी है, किन्तु उसके व्याकरण का स्वरूप तत्कालीन भारत के अन्य प्राकृत साहित्य की तुलना मे अधिक विकसित है। उसके कुछ उदाहरण उल्लेखनीय है।

नाम के सब रूपाख्यान अकारान्त नामो के अनुसार होते है। -इ -उ ∠ऋ कारान्त नामो को -अ लगा देने से ऐसी परिस्थिति बनाई गई है जिससे अपभ्रंश की याद आती है। अपभ्रश की तरह प्रथमा और द्वितीया मे प्रत्ययभेद नही। भूतकाल कर्मणिभूतकृदंत से सूचित

होता है—active भूतकाल–इसके उदाहरण तो हमको नव्य भारतीय आर्य भाषाओं से ही मिलेंगे।

उदा—निय मे 'दा' का active भूतकाल ऐसा होगा —

ए. व	ब व
दितेमि	दितम
दितेसि	दितेथ
दित	दितन्ति

इसकी विकासरेखा इस प्रकार सूचित की गई है दित अस्मि–दितेमि, दिता स्म–दितम, इसका आधार भी मिलता है, क्योंकि प्र पु ए व मे कही–ओस्मि भी मिलता है, जो मूल रूप को सूचित करता है। जहाँ कर्मणिभूत का सूचन करना हो वहाँ–क का आगम होता है जैसे दित 'दिया', दितग (वा दितए) 'दिया हुआ'। इस ग्रंथ के समय को लक्ष्य मे रखते हुए, भूतकाल का यह प्रयोग अत्यन्त महत्त्व का हो जाता है। नव्य भारतीय आर्य भाषा मे ऐसे प्रयोग प्रचलित है, और इस विषय मे ज़ुल् ब्लोखने आलोचना की है (लॉदो आर्या पृ० २७६)। प्राचीन सिंहली और अर्वाचीन सिंहली मे दुन्मो—(* दिन्न स्म) 'हमने दिया,' अर्वाचीन सिंहली मे कपुवेमि (* कल्पितको स्मि) 'मैने काटा,' बिहारी मे देखले हूँ—'मैने देखा,' बँगला तृ. पु. ए व देखिल 'उसने देखा' इ इ।

गिरनार के लेख की भाषा पश्चिमोत्तर और पूर्व से भिन्न भाषा प्रदेश सूचित करती है। इस भाषा की कुछ विशेषताए इसे साहित्यिक पालि के निकट ले जाती है। पश्चिमोत्तर का कुछ प्रभाव तो गिरनार मे मालूम होता ही है, और वह गुजरात सौराष्ट्र की भाषास्थिति के अनुकूल ही है। पालि प्रधानतया मध्यदेश मे विकसित साहित्यिक भाषा है, और उसका सम्बन्ध प्राचीन शौरसेनी से होगा। किन्तु मध्यदेश मे जो अशोक के लेख है उनकी भाषा पूर्व की ही-मगध की है। मध्यदेश मे अशोक की राजभाषा समझना दु साध्य न होने से वहाँ के लेखो पर स्थानिक प्रभाव पड़ने की कोई आवश्यकता न थी। पश्चिमोत्तर और पश्चिमदक्षिण के प्रदेश दूर होने से, वहाँ की भाषा ने अशोक के शिलालेख की भाषा को उनके निजी ढाँचे मे डाली, यह भी उतना ही स्वाभाविक है।

ऋ का सामान्यत अ होता है, ओष्ठ्यवर्ण के सानिध्य मे उ—
मग (मृग -), मत (मृत -), दृढ (दृढ -)
कतञ्ता (कृतज्ञता), वुत्त (वृत्त–)
मध्यदेश मे सामान्यत ऋ का इ होता है।

श ष स का भेद नही रहता, इन सबके लिये स ही मिलता है।

पश्चिमोत्तर के अनुसार क्ष का छ होता है। मध्यदेश मे उसका ख मिलता है

व्रछा, छुद (क्षुद्र-)। अपवाद–इथीझख।

स युक्त सयुक्त व्यजन मे स वैसा ही रहता है।

अस्ति, हस्ति, सस्टि–, स्रष्टि।

√स्था उसके ईरानी रूप मे–√स्ता रूप मे-मिलता है, किन्तु उसका मूर्धन्यभाव भी होता है· √स्टा–स्टिता, तिस्टंतो, घरस्त।
सामान्यतया मध्यदेश मे इसका ट्ठ हो जाता है।
र और य युक्त सयुक्त व्यंजनो का सावर्ण्य होता है (assimilation)।
व्य वैसा ही रहता है
अतिकात (अतिक्रान्त), ती (त्रि०),परता (-त्र), सब, अपचं, कलान (कल्याण) इथीझख (स्त्री-अध्यक्ष-)।
मगव्य, कतव्य।
त्व और त्म का त्प होता है
चत्पारो, आत्प।
प्राचीन शौरसेनी मे त्ता मिलता है, तदनुसार सम्बन्धक भूतकृदंत मे -त्वा > -त्पा मिलता है।
हेत्वर्थ—छमितवे (* क्षमितुम्)
द्व का द्व द्वादस मे मिलता है। दुवे द्वे का प्रयोग भी मिलता है।
अकारान्त पु० प्रथमा ए० व० का प्रत्यय सामान्यत :–ओ है, सप्तमी ए० व० का –म्हि।

अशोक के शिलालेखों मे मध्यदेश की भाषा के नमूने व्यवस्थित रूप से नहीं मिलते, किन्तु यदि उत्तरकालीन साहित्य पर दृष्टिपात करे तो अश्वघोष के नाटको की नायिका और विदूषक की भाषा—

जिसको ल्यूडर्स यथार्थ प्राचीन शौरसेनी कहते है–की तुलना अशोक के गिरनार के लेख के साथ हो सकेगी। मध्यदेश की भाषा के कुछ लक्षण हमको गिरनार मे मिलते है, और गिरनार के साथ अश्वघोष की भाषा का साधर्म्य वैधर्म्य कितना है उसका पता लग सकता है। मध्यदेश के कुछ लक्षण सर्वसामान्य है — अस् का ओ, श, ष, स का स। अश्वघोष की शौरसेनी मे ज्ञ का ञ्ञ होता है, यद्यपि उत्तरकालीन वैयाकरणो ने ण्ण का विधान किया है, किन्तु गिरनार मे भी ञ मिलता है कृतञ्ञता। र युक्त सयुक्त व्यजनो का सावर्ण्य अश्वघोष की शौरसेनी मे भी होता है। मध्यदेश को सामान्य प्रक्रिया ऋ > इ अश्वघोष मे मिलती है, गिरनार मे नहीं। सयुक्त व्यजनो मे व्य > व्व होता है, गिरनार मे नही। ष्ट, ष्ठ का ट्ठ होता है, गिरनार मे स्ट ही रह जाता है। मध्यदेश की विशिष्टता क्ष > ख अश्वघोष की शौरसेनी मे मिलती है, गिरनार मे सामान्यतया छ मिलता है। अश्वघोष के नाटको की भाषा प्राचीन है ही, इससे इसको प्राचीन शौरसेनी कहना ठीक हो है। यह प्राचोन शौरसेनो इस अवस्था मे है जहा एकाध अपवाद को छोडकर स्वरातर्गत व्यजनो का घोषभाव— त का द, जो बाद मे शौरसेनी का प्रधान लक्षण हो जाता है— मिलता नहीं। प्राय सब स्वरान्तर्गत व्यजन अविकृत रहते है। इस प्राचीन शौरसेनी को मथुरा के लेखो से— जो शौरसेनो का प्रभव स्थान हो सकता है— तुलना करना मुश्किल है, किन्तु यह अभ्यास स्वतत्र चितनका विषय तो है ही। इन लेखो की भाषापर से सस्कृत का आवरण हटा कर— जो वहां की बोली पर लादा गया है— जब उसका अभ्यास होगा, तब इन हकीकतो पर अधिक प्रकाश जरूर डाला जा सकेगा।

अशोक के पूर्व के लेखो के साथ केवल पूर्व के ही नही किन्तु मगध के पश्चिम मे लिखे गए कुछ लेखो को भी गिनना होगा। हमने आगे इस बात की चर्चा की है कि जहा मगध की राजभाषा दुर्बोध न थी, वहां के शिलालेख प्राय पूर्व की ही शैली मे लिखे गए। खास तौर से मध्यदेश मे जो लेख मिलते है उनसे यह बात स्पष्ट होती है। वहा के राज्याधिकारी अशोक की राजभाषा से सुपरिचित होगे इससे मध्यदेश की छाया उन लेखो पर खास मालूम नहीं होती, और इससे मध्यदेश की बोली के उदाहरण हमको अशोक के लेखो मे नही मिलते।

इस वजह से कालसी टोपरा इ० के लेख पूर्व के धौली जौगड से खास भिन्न नही। पूर्व मे जो ध्वनिभेद सार्वत्रिक है वह कालसी टोपरा मे वैकल्पिक है। ऐसी एक दो विशेषताएँ जरूर है पूर्व मे र का ल,–ओ का- ए, शब्दान्तर्गत– जैसे कलेति (करोति) सार्वत्रिक है, कालसी टोपरा मे ये वैकल्पिक है।

पश्चिमोत्तर के लेखो को छोडकर सब जगह श ष स का स होता है, तदनुसार इस विभाग मे भी स ही मिलता है। कालसी मे परिस्थिति अनोखी है, वहाँ श ष का भी प्रयोग मिलता है। पहले नौ लेखो मे कालसी मे गिरनार की तरह श ष की जगह स ही मिलता है, एक दो अपवाद को छोडकर। उसके बाद अनेक स्थान पर श ष का प्रयोग भी शुरू होता है। यह प्रयोग इतना अनियत्रितता से होता है, कि मूल सस्कृत के श ष स से भी उसका कोई सम्बन्ध नही। उसके कुछ उदाहरण—

मूर्धन्य ष—पियदषा, यषो, अपपलापवे (अपपरिस्रव)
उषुटेन, उषटेन, उशता, हेडिषे (ईदृश)
धमषंविभागे, धंमषबधे,
षम्यापरिपति (सम्यक् प्रतिपत्ति), षुषुषा, दाशभतकषि,
अठवषाभिसितषा (-स्य), पियष (-स्य,)
पानषतषहषे (प्राणशतसहस्रे), शतषहष (शतसहस्रमात्र॰),
अनुषये (अनुशय), धमानुशथि (धर्मानुशिष्टि-),
षमचलियं (समचर्या,) इ० इ०।

तालव्य श—पशवति (प्रसूते), शवपाशडान (सर्वपापण्डानां)
शालवढि (सारवृद्धि), शिया (स्यात्)
पकलनशि (प्रकरणे) इ० इ०

श ष के इन अनियत्रित प्रयोगो से विद्वानो ने ऐसा निर्णय किया है कि कालसी मे सामान्य प्रचार स का ही मानना चाहिये, ये श और ष लेखक के (लहिया के) लिपिदोष से आ गए है। आगे चलकर, इन श कार और स कार की चर्चा करनी होगी।

पूर्व के लेखो मे स्वार्थ क का प्रयोग बढता जाता है। काला सी टोपरा के लेखो मे यह प्रयोग अधिक होता है। यहाँ के लेखो की एक और विशेषता क और ग का तालुकरण है, खास तौर से क का—

कालसी — नातिक्य, चिलथितिक्य, चिलठितिक्य,
स्वामिक्येन, कलिग्येषु, अलिक्यषुदले।

टोपरा — अढकोसिक्य (*अष्टक्रोशिक्य), अम्बावडिक्य (आम्रवा-टिका)।

क्वचित् कचित स्वरान्तर्गत क का घोषभाव होता है।

अन्तियोग—Antiochus (गिरनार-अन्तियक),

अधिगिन्य, हिद लोगम्।

स और र युक्त सयुक्त व्यजनो मे स और र का सावर्ण्य होता है

अठ (अष्टन्-,-अर्थ-), सव, अथि (अस्थि-)।
निखमतु अबा- (आम्र-)।

सयुक्त व्यजनो मे त और व के अनुगामी य का इय होता है, द और क के अनुगामी य का सावर्ण्य होता है।

अज (अद्य), मझ (मध्य-), उदान (उद्यान-), कयान (कल्याण-), पजोहतविये (प्रहोतव्य), कटविये (कर्तव्य), एक-तिया (गिरनार-एकचा), अपवियाता (अल्पव्ययता), वियजनते (व्यजनत), दिवियानि (कालसी—दिव्यानि), ।

अन्यत्र भी—मधुलियाये (मधुरतायै),

सयुक्त व्यजनो से व्यजन के अनुगामी व का उव होता है, किन्तु शब्दान्तर्गत त्व का त्त होता है—

सुवामिकेन (स्वामिकेन), कुवापि (क्वापि), आतुलना (आत्वरणा) चत्तालि (चत्वारि)।

स्म, ष्म का फ होता है, किन्तु सप्तमी ए० व० का प्रत्यय स्मि सि ही है

तुफे, अफाक, येतफा (एतस्मात्)

क्ष का सामान्यत ख होता है, कुछ अपवाद भी है

मोख, खुद। छणति (क्षणति)।

अकारान्त पु० नाम के प्र० ए० व० के,-अस् का -ए सार्वत्रिक है।

वर्तमान कृदन्त के-मीन, धौली जौगड मे मिलते है

पायमीन, विपतिपादयमीन ।

पूर्व की भाषा के ये लक्षण हमारे लिए मागधी अर्धमागधी के प्राचीनतम उदाहरण है। मागधी अर्धमागधी के लक्षणो की चर्चाएं काफी हो चुकी है। मागधी का दूसरा प्राचीनतम उदाहरण जोगी-मारा-रामगढ का है। यह उदाहरण है छोटासा, किन्तु करीब-करीब अशोक का समकालीन है, और ल्युडर्स ने इसकी भाषा की ठीक आलोचना की है।

शुतनुक नाम देवदशिक्यि
त कमयिथ बलनशेये
देवदिने नम लुपदखे।

इस छोटे से लेख की भाषा की सभी विशेषताओ की तुलना अशोक की पूर्व की भाषा के साथ हो सकती है।

क का तालुभाव देवदशिक्यि, अकारान्त पु० प्र० ए० व० का -ए प्रत्यय, र का ल लुपदखे, बलनशेये। इसके अतिरिक्त स और श का श होना, जो मागधी की विशिष्टता है किन्तु अशोक के पूर्व के लेखो मे भी अनुपलब्ध है वह हमे यहाँ मिलती है। अशोक के लेखो मे पूर्व का श नही मिलता, मध्यदेश का स कार ही मिलता है। मागधी का श कार है तो पुराना इसमे शक नही। डॉ चेटर्जी का सूचन है कि श कार ग्राम्य गिना जाता होगा, इससे इसको अशोक की राजभाषा मे प्रवेश न मिला, और स कार शिष्टता की वजह से प्रयुक्त होता है। शकार की ग्राम्यता के दूसरे आधार भी मिलते है। नाटको के प्राकृतो मे नीच पात्र मागधी का व्यवहार करते है, और यहाँ स श का श होना उनकी मागधी की खास विशिष्टता है। अश्वघोष के नाटको मे— जो नाटको के प्राकृत के प्राचीनतम उदाहरण है— ल्यूडर्स के मतानुसार, प्राचीन मागधी का प्रयोग किया गया है। उनके एक नाटक का खलपात्र 'दुष्ट', मागधी का प्रयोग करता है। इस पात्र की भाषा की अशोक की पूर्व की भाषा के साथ और जोगीमारा की मागधी के साथ तुलना की जा सकती है। अश्वघोष का प्राकृत, अशोक के प्राकृत से तीन चार शतक अर्वाचीन होते हुए भी, साहित्यिक शैली मे लिखे जाने से, हमारे पुराणप्रिय देश मे कुछ पुरानापन निभाता है, यह स्वाभाविक ही है। 'दुष्ट' की भाषा के ये लक्षण—र का ल, स श का श, अकारान्त पु० प्र० ए० व० का -ए

मागधी के लक्षण ही है। इनके अतिरिक्त कई लक्षण ऐसे भी है जो उत्तरकालीन वैयाकरणो की मागधी से मिलते नही, किन्तु वे प्राचीन मागधी के सूचक है—स्वरान्तर्गत असयुक्त व्यजन अविकृत रहते है, न का मूर्धन्यभाव नही होता, सर्वनाम के रूपाख्यानो मे व्यक्ति वाचक के प्र पु ए व. मे अहकम्- जो हगे का पुरोगामी है- का प्रयोग होता है। इन आधारो पर ल्यूडर्स खलपात्र की इस भाषा को प्राचीन मागधी कहते है, और नाटको की मागधी का यह पुरोगामी स्वरूप है ऐसा अभिप्राय प्रदर्शित करते है। अगर इसे प्राचीन मागधी कहा जाय और यह कहने मे कोई खास दिक्कत नही तो अर्धमागधी का स्वरूप क्या होगा ?

अर्धमागधी शब्द का अर्थ क्या ? आगम साहित्य मे बारबार ऐसा कहा गया है कि भगवान अर्धमागधी भाषा मे उपदेश करते है। अश्वघोष के नाटको की भाषा की सहायता इस बारे मे मिल सकती है। उनके नाटको का एक पात्र गोबं. ल्यूडर्स के मत के अनुसार, अर्धमागधी का व्यवहार करता है। उसकी भाषा के लक्षण ये है· -अस् > -ए, र > ल, और श, स > स। प्रथम दो लक्षण उसको मागधी के साथ मिलाते है, किन्तु तीसरा उसको मागधी से अलग करता है। इसके अतिरिक्त अकारान्त नान्यतर नामो के द्वि व. व के पुष्फा, वाक्यसधि मे पुष्फा येव, हेत्वर्थ कृदंत भु जितये, वर्तमान कृदत गच्छमाने, स्वार्थिक-क की बहुलता ये सब लक्षण उल्लेखनीय है। पुष्फा और मुंजितये का साम्य अर्धमागधी से ही है, और श, स > स होना अर्धमागधी का ही लक्षण है। इन आधारो से ल्यूडर्स इस पात्र की भाषा को प्राचीन अर्धमागधी कहते है। भरत के नाट्यशास्त्र के प्रख्यात विधान के अनुसार, नाटको मे अर्धमागधी का प्रयोग स्वाभाविक ही है। उत्तरकालीन नाटको मे यह प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु अश्वघोष के पात्र की भाषा को प्राचीन अर्धमागधी कहने मे कोई आपत्ति नही।

वस्तुत, अगर भाषा की दृष्टि से देखा जाय तो, इस समय की, पूर्व की भाषा के बोलीभेद कितने ? और किस तरह के ? अशोक की पूर्व की भाषा के लक्षण—अस् > -ए, र > ल, श, स > स, और कंठयो का तालुकरण। अश्वघोप की प्राचीन मागधी के लक्षण—अस् > -ए. र > ल, श, स > श। एक ओर हम अश्वघोष की मागधी और

जोगीमारा लेख रख सकते है, और दूसरी ओर अशोक की पूर्व की भाषा और अश्वघोष की अर्धमागधी को रख सकते है। इन दो बोलियो का एक मात्र भेदक लक्षण श और स का उच्चारण है। इतने कम आधार पर बोलीभेद नियत नही किए जाते। एक ही बोली-विस्तार मे बोलियो की भेदरेखा खिचते समय हमारे सामने, कुछ अधिक प्रमाण मे और स्पष्ट रूप मे ध्वनिभेद की रेखाएँ होनी चाहिए।

बुद्ध और महावीर प्राय एक ही काल मे और एक ही स्थल मे धर्मोपदेश करते थे, इससे दोनो की व्यवहार भाषा भी एक ही होगी। उस प्रदेश की मान्य भाषा, जो कि सर्वत्र समझी जाती होगी, उनकी व्यवहार भाषा होगी। अत्यत ग्राम्य प्रयोग उनकी भाषा मे आने का सभव कम है, और फिर भी जिन आचार्यो ने उनके उपदेशो का सग्रह किया उन्होने भी ऐसे ग्राम्य प्रयोगो को उनके साहित्य मे रक्खा नही होगा। इससे ऐसा भी हो सकता है कि श और स दो बोलीविभागो की भेदरेखा न हो किन्तु शिष्टता और ग्रामीणता का सूचक हो। उस प्रदेश का स्वाभाविक उच्चारण श हो, किन्तु शिष्ट उच्चारण स हो, और ऐसी परिस्थिति असाधारण नही। वर्तमान भाषाप्रदेशो मे भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलेगे। बुद्ध और महावीर उच्च कुल के राजकुमार थे, उनकी रहन-सहन, शिक्षा इ के प्रभाव से शिष्ट प्रयोग ही उनके मुख से हुए हो यह स्वाभाविक है।

तब, इस समय मे—ईसा के पहले प्रथम पांच शतको मे—पूर्व की भाषा के बोलीभेद नियत करने के—मागधी अर्धमागधी के भेद नियत करने के—कोई आधार हमारे पास नही। जिस भाषा मे महा-वीर ने उपदेश किया होगा, वह भाषा, उपरिकथित पूर्व की भाषा के लक्षणो से युक्त भाषा होगी, इतना ही अनुमान हो सकता है।

हमने आगे चर्चा की है कि बुद्ध और महावीर के उपदेश उनकी ही भाषा मे मिलना आज सभव नही, बौद्धो की पालि वा मागधी, जैनो की अर्धमागधी, मूल उपदेश की सवर्धित-विवर्धित आवृत्तिया ही हो सकती है, कही अल्प परिवर्तन, कही अधिक परिवर्तन। जैन आगमो की भाषा, जिनको सामान्यतया अर्धमागधी कहा जाता है, वह उपरिकथित पूर्व की भाषा से दो तरह से भिन्न है। स्थल दृष्टि

से और काल दृष्टि से । आगमो की प्राकृत विकसित प्राकृत है । उसका स्थान, प्राचीन की अपेक्षा मध्यकालीन प्राकृतो के साथ है ।

प्राकृत भाषाओ के विकास को भाषाइतिहास की दृष्टि से तीन या चार खड मे विभाजित करते है । प्राचीनतम प्राकृत के उदाहरण अशोक के लेखो मे और पालि साहित्य के कुछ प्राचीन अशो मे मिलते है । इस काल की विशेषताए सक्षेप मे ये है—ऋ और लृ का प्रयोग खत्म होता है । ऐ औ, अय अव का ए, ओ, अत्य व्यजन और विसर्ग का लोप, इस अतिम प्रक्रिया से सब शब्द स्वरान्त होते है, और कुछ अविकृत रहते है । सयुक्त व्यजनो मे से कुछ मे सावर्ण्य होता है, और कुछ अविकृत रहते है विशेषत र युक्त, और कही कही ल युक्त । स्वरान्तर्गत व्यजनो का घोषभाव -जैसे क का ग- अपवादात्मक रूप से होता है, किन्तु विरल है, यह अपवाद भाषा की भविष्य की गति का सूचक होता है । यह प्राकृतो की प्रथम भूमिका ।

दूसरी भूमिका के प्राकृतो मे निय प्राकृत, अश्वघोष के नाटको के प्राकृत, प्राकृत धम्मपद और खरोष्ठी लेखो की प्राकृते आती है । इस भूमिका मे स्वरान्तर्गत असंयुक्त व्यजनो का घोषभाव और तदनन्तर घर्षभाव होता है । घर्षभाव की प्रक्रिया नियप्राकृत मे स्पष्टतया मिलती है । यह अवस्था शब्दान्तर्गत असयुक्त व्यजनो के संपूर्ण ह्रास की पूर्वावस्था है ।

प्राचीन अर्धमागधी- आगमो की भाषा मे जो कुछ प्राचीन हिस्से मिलते है जैसे कि आचाराग और सूत्रकृताग के कुछ अश, इस भूमिका की अन्तिमावस्था मे आ सकते है । इस समय मे घोषभाव की प्रक्रिया सर्वसामान्य है, किन्तु स्वरान्तर्गत व्यजनो का सर्वथा लोप नही होता, स्वरान्तर्गत महाप्राणो का ह भी सर्वथा नही होता ।

तीसरी भूमिका मे आते है साहित्यिक प्राकृत, नाटको के प्राकृत, और वैयाकरणो के प्राकृत । इन प्राकृतो मे अन्यान्य बोलियो के कुछ अवशेष रह जाते है, किन्तु इनका स्वरूप केवल साहित्यिक ही है । इस भूमिका मे स्वरान्तर्गत व्यजनो का सर्वथा ह्रास होता है, और महाप्राणो का सर्वथा ह होता है । मूर्धन्यो का व्यवहार बढ जाता है ।

चौथी भूमिका के प्राकृत – अन्तिम प्राकृत – को हम अपभ्रंश कहते

है। यह साहित्यिक स्वरूप हमारी नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का पुरोगामी साहित्य है। यह केवल साहित्यक स्वरूप है, बोली भेद अत्यत न्यून प्रमाण मे दृष्टिगोचर होते है। अधिकाश, पूर्व से पश्चिम तक एक ही शैली मे लिखा गया यह केवल काव्य साहित्य है।

प्राचीन आगम साहित्य को हम दूसरी और तीसरी भूमिका के सक्रमण काल मे और शेप आगम साहित्य को तीसरी भूमिका मे रख सकते है। स्थल की दृष्टि से, अर्धमागधी पूर्व की भापा होते हुए भी कालक्रम से पश्चिम-मध्यदेश-के प्रभाव से अंकित होने लगी। इस वास्ते पूर्व के श को जगह अर्धमागधी मे स का प्रयोग शुरू होता है, पूर्व के -अस् > -ए की जगह पश्चिम का -ओ भी आगमो मे व्यवहृत होता है, यद्यपि प्राचीन -ए भी आगमो मे कई जगह सुरक्षित है ही। पूर्व के ल की जगह पश्चिम का र भी धीरे-धीरे व्यवहृत होता जाता है। इन सबसे यही सूचित होता है कि आगमो की पूर्व की भापा का पश्चिमी सस्करण आगमो की भापा का महत्त्व का प्रकार है। जैनधर्म पूर्व मे पैदा होकर पश्चिम और दक्षिण मे फैला, और वहा ही उसके साहित्य के प्रथम सस्करण हुए। इसका दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि मगध-पाटलिपुत्र के ह्रास के बाद साहित्य और सस्कृति के केन्द्र भी पश्चिम मे जा रहे थे।

३

प्राकृत का उत्तरकालीन विकास

बुद्ध और महावीर के काल मे प्रतिष्ठित होने के बाद प्राकृतो का विकास समग्र आर्य भारतीय भापाप्रदेश मे होता है। अश्वघोष के समय में तो ये प्राकृतें साहित्यिक स्वरूप प्राप्त कर लेते है । अन्याय नाटको मे तरह तरह के पात्रो के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के प्राकृतो का व्यवहार होता है इससे यह सूचन होता है कि प्राकृत स्थिर साहित्यिक स्वरूप मे बढ़ रहे थे। अब, प्राकृतो का विकास जारी रहता है, किन्तु स्थलकाल को दृष्टि से इनका इतिहास मिलना मुश्किल हो जाता है। साहित्यिक स्वरूप फैलते चले, और एक तरह का शिष्ट प्राकृत पैदा हुआ जिसने अन्य प्राकृतो की विशिष्टताए अपना ली—जैसे, अनेक बोलियो-मे से जब एक बोली शिष्ट स्वरूप पाती है तब वह अन्य बोलियो की अनेक विशिष्टताए अपना कर आगे बढती है । इससे हमारी समक्ष एक ही प्राकृत विविध रूपसे प्रगट होता है। प्रथम शौरसेनी प्राकृत के रूप मे, पश्चात् महाराष्ट्री के रूप मे। ये प्राकृत, उनके नाम के अनुसार किसी विशिष्ट प्रदेश की भापाए नही, किन्तु प्राकृतो की दो ऐतिहासिक भूमिका मात्र है। शोरसेनी मे स्वरान्तर्गत असयुक्त व्यजनो का घोप-भाव होता है, और वह घोष व्यजन होकर महाराष्ट्री मे सपूर्णतया नष्ट होता है त का द होकर अ—। घर्षभाव की इस भूमिका के उदाहरण हमको भारतीय भाषाओ से मिलते नही, किन्तु, ध्वनिदृष्टि से व्यजन लोप के पूर्व यह आवश्यक भूमिका है। और नियप्राकृत मे हमको घर्षव्यजन मिलते है, जिससे यह प्रक्रिया साधारण बनती है। घर्पभाव की यह भूमिका ईसा की प्रथम शताब्दी के काल मे आर्य-भापाओं मे व्यापक होनी चाहिए, इसका अनुगामी विकास— व्यजनो-का सर्वथा लोप— भारतीय भाषाओ मे सार्वत्रिक ही है। इस काल मे, भारतीय लिपि मे घर्षभाव व्यक्त करने की कोई सज्ञा न होने से लेखको के सामने कठिनाई पैदा हुई होगी। खरोष्ठी लिपि मे लिखे गए प्राकृत साहित्य मे लहियाओ ने घर्षभाव व्यक्त करने का यह प्रश्न व्यजन को र वा य जोड कर हल किया है। ब्राह्मी लिपि मे ऐसी कोई व्यवस्था न होने से घर्षभाव व्यक्त करने के लिए घोप व्यजन लिखना या अघोष.

या अ लिखना ऐसे प्रश्न बारबार लहियाओ के सामने आते होंगे। त के लिए द, द के लिए त, क के लिए ग, ग के लिए क, वा सब के लिए य, अ, ऐसे भ्रम जब नियप्राकृत में हमको मिलते है, तब उसके उत्तरकालीन प्राकृतसाहित्य मे जहा यह ध्वनि विकास सार्वत्रिक हो रहा था वहा यह प्रश्न अधिक संकुल हो गया होगा। शौरसेनी मे यह प्रवृत्ति शुरू होकर महाराष्ट्री मे पूर्ण होती है। स्वरान्तर्गत असयुक्त व्यजन का सर्वथा लोप होता है। यह होते ही अनेक शब्द, जो प्राचीन भाषा मे विविध थे, वे समान ध्वनिवाले बन जाते है मअ=मद-, मत-, मृग-, मृत-, कोई भी भाषा इतना अर्थभार सहन नही कर सकती। इसका परिणाम यह होता है कि उस भाषा के शब्दकोष मे खूब परिवर्तन होता है, और अलग अलग अर्थ प्रदर्शित करने के लिए नये नये शब्द पडौसी भाषाओ से भी लिए जाते है। एक ही साथ शब्दों का ह्रास और वृद्धि होती चली। इन उद्वृत्त स्वरो के स्थान पर आगम साहित्य मे कभी कभी त कार आता है। यह त कार अधिकाश दो स्वरो को निकट न आने के लिए लिखा जाता है। कभी कभी भाषा में व्यजनो का ऐसा आगम होता है जैसे फ्रेन्च मे भी ऐसी परिस्थिति मे त कार प्रयुक्त होता है। व्यजनो की घर्षभूमिका के कारण मे लिपि-की त्रुटि से घोषअघोष की और व्यजनलोप की गडबडी को लक्ष्य मे रखकर, आगमो की इस त श्रुतिका मूल्याकन करना चाहिए। अधि-कांश यह त कार लिपि की एक प्रणालिका का सूचक है बोलचाल का नहीं, यह ख्याल करना चाहिए।

शौरसेनी, वा उसका प्रकृष्ट स्वरूप-विकसित स्वरूप-महाराष्ट्री, हमारी समक्ष किसी प्रदेश या समय की व्यवहार भाषा की हैसियत से आती नही, हम उसको सिर्फ साहित्यिक स्वरूप मे ही पाते है। इस दृष्टि से प्राकृतो का विकास, सस्कृत की तरह ही होता है। उत्तरकालीन प्राकृतो मे हमारे पास सिर्फ एक ही तरह की प्राकृत भाषा का प्रधानतया साहित्य विद्यमान है। अगर व्यवहार का प्राकृत हमारे लिए बचा होता, तो इस विशाल भारत देश मे अनेक प्रकार के प्राकृत पाए जाते। जैसे वर्तमान काल मे पूर्व पश्चिम वा मध्यदेश और उत्तर मे अनेक प्रकार की आर्य भारतीय भाषाए विद्यमान है वैसे ही अनेक तरह के भिन्न भिन्न प्राकृत व्यवहार मे होंगे। वैयाकरणो ने भी प्रधानतया एक ही प्राकृत की आलोचना की है, बोलीभेद के बहुत कम निर्देश इनमे

मिलते हैं। अधिकांश तो ध्वनि और व्याकरण के भेद की अपेक्षा वैयाकरणों ने अन्य प्राकृतों के नाम लेकर भिन्न भिन्न प्रकार के कुछ शब्द प्रयोगों की ओर लक्ष्य खिंचा है। साहित्यकारों ने भी जो भिन्न भिन्न नाम दिये हैं जैसे प्राच्या, अवन्तिजा इ. वहां भी बोलीभेद की बजाय सिर्फ शब्दभेद (changes of vocabulary) के उल्लेख किए हैं। समग्र भारत में साहित्यिक स्वरूप में तो एक ही तरहके प्राकृतका व्यवहार होता रहा है। पहले जो संस्कृत की दशा थी वह आगे चल कर प्राकृत की दशा होती है, और उससे आगे अपभ्रंश की भी वही दशा है। भारतीय भाषाइतिहास की यह एक विशिष्टता है— प्राचीन काल की कोई भी भाषा संस्कृत, प्राकृत वा अपभ्रंश तत्कालीन व्यवहार भाषा से सीधे सम्बन्ध न रखकर शिष्ट ढंग से विकसित होती रही। शिष्ट प्रणालिका अनुसार उनमें कुछ न कुछ विकास होता रहा, बोलचाल की भाषा के प्रतिबिम्ब उनमें पड़ते रहे, किन्तु आमप्रजा का जीवन और शिष्टों का साहित्य दोनों की बीच एक स्पष्ट व्यवधान रहता आया है। भाषाअभ्यासियों के लिए इन शिष्ट स्वरूपों का महत्त्व मर्यादित है। वर्तमान व्यवहारभाषाओं की सहायता से ही वह प्राचीन काल की बोलियों का अनुमान कर सकता है, और इस अनुमान के लिए उपलब्ध प्राचीन शिष्टभाषाओं से जो सहायता मिलती है वह केवल पूरक हो सकती है। इन शिष्टभाषाओं में व्यवहारभाषा के प्रतिबिम्ब अवश्य आते रहे हैं, और उनको अलग करके वह भाषाइतिहास को सुसम्बद्ध कर सकता है। ऋग्वेद में स्वरान्तर्गत-ड-और-ढ-का उच्चारण -ळ और -ळह- होता है ऐसा विधान हमको मिलता है। यह उच्चारण ऋग्वेद के बाद साहित्य में मिलता नहीं। यह खासीयत तत्कालीन उदिच्य की बोली की है, इससे ही हमको द्वादश के लिए * दुवाडस > दुवालस और उसके बाद भारतीय भाषाओं के 'बारह', 'बार' इ० मिलते हैं। उदिच्य का यह 'ग्राम्य' उच्चारण ऋग्वेद को छोड़ कर कहीं भी मिलता नहीं। उसका कारण है, शिष्टता का आग्रह। ऐसा दूसरा उदाहरण हमको मिलता है स्वार्थिक -क का। वर्तमान भारतीय भाषाओं के इतिहास की दृष्टि से यह -क प्रत्यय महत्त्व का है। वर्तमान बोलचाल की भाषा के अधिकांश शब्द इस -क द्वारा विकसित संस्कृत शब्दों से पैदा हुए हैं। प्राचीन संस्कृत में भी -इ -उ वा -अ युक्त -क प्रयुक्त होता था, अवेस्ता में भी कुछ उदाहरण मिलते हैं। सं.

शुष्क, अवे० हुष्क, सं—अस्माकम्, अवे० अस्हाकम्। पहले यह -क शायद लघुता सूचक होगा, किन्तु कई जगह उसका प्रयोग इसके सिवा भी होता है -जैसे सन, सनक, वीर, -वीरक इ०। व्यवहार मे दीर्घ स्वर युक्त -क -ईक, -ऊक, -आक, के प्रयोग भी काफी होगे। वेद मे हमको पावक शब्द मिलता है, जिसका उच्चारण पवाक होना चाहिए, उसका आधार है वैदिक छन्द व्यवस्था, मूल पवा- होने से ही उसका स्त्रीलिंग मिलता है पावका। अगर मूल मे पावक उच्चार होता तो व्याकरण के अनुसार उसका स्त्रीलिंग पाविका होना चाहिए। व्यवहार के ये दीर्घस्वरयुक्त -क युक्त उच्चारण शिष्टभाषा मे जीते नहीं, किन्तु कभी-कभी उनके प्रतिबिम्ब मिलते ही है, जैसे—छोटे जीव-जन्तु के नाम, जो प्राय बोलचाल की भाषा की शिष्टता को देन होगी, मण्डूक, उलूक, पृदाकु, वल्मीक ई०। यहाँ दीर्घस्वरयुक्त -क का प्रयोग व्यवहार की देन है। वल्मीक का -ल पूर्व की बोली का सूचक है, र युक्त शब्द भी मिलता है वम्र, वम्रक। (देखो, वाकरनागेल, आल्तीन्दिश ग्रामातिक II. I. 45, ब्लोख् 'लॉदो आर्या' पृ० १११, बटकृष्ण घोष 'लिग्विस्टिक इन्ट्रोडक्शन टु सस्कृत' प्रकरण तोसरा)।

प्राकृतो का विकास सस्कृत के अनुसार होता है। सच तो यह है कि सस्कृत से भी अधिक कृत्रिमता से यह साहित्य बढा है। सस्कृत जैसी विषयो की विपुलता प्राकृत मे नहीं, प्राय प्राकृत अमुक धर्म के अनुयायियो की ही भाषा बनी रही, और एक ही तरह की शैली और रूढि का प्रयोग होने से उसका शब्दकोष इतना विपुल नहीं। प्राकृतो के आरम्भ काल के बाद भी भारतीय इतिहास मे सस्कृत का उदय काल आने से पढ़े-लिखे सभी शिष्टजन फिर से सस्कृत मे ही रचनाये करने लगे, और प्राकृतो का विकास कुण्ठित ही रह गया। इस दृष्टि से 'प्रकृति संस्कृतम्' का एक ही अर्थ हो सकता है—प्राकृत का आदर्श (model) है सस्कृत। उस आदर्श के अनुसार प्राकृत का विकास होता है। जैसे मूल मे शिष्टता का आदर है वैसे उनकी प्रतिकृति मे भी। भाषाअभ्यासी के लिए इन प्राकृतो की महत्ता इस लिए है कि यह साहित्य वैदिक कालकी आर्यभाषा और वर्तमान काल की बोल-चाल की आर्य भाषा की एक आवश्यक अवान्तर अवस्था है। यद्यपि व्यावहारिक बोली मे उपलब्ध स्थल काल के भेद उसमे मिलने मुश्किल है, तथापि उसकी यह महत्ता तो है ही। स्थलकाल के भेद तो हमको वर्त-

मान भाषाओं को छोड कर समग्र भारतीय भाषाओ म कहाँ मिलते है? भारतीय भाषाओं के अभ्यास की समग्र दृष्टि से आलोचना करते हुए झुल् ब्लोख उनके ग्रथ 'लॉदो आर्या दु वेद ओ ता मोदेर्न' पृ० ३७१-७२ मे कहते है—

"योरपीय भाषाओ की तुलना मे सुविकसित भारतीय आर्य भाषाओं का शब्द कोष विपुल है। किन्तु योरपीय भाषाओं के शब्दो मे जैसी अर्थ की सूक्ष्मता और मानसिक सन्दर्भ (subtlety and psychological associations) है, वैसे उनमे नही। रोमान्स भाषागण और भारतीय आर्य भाषागण के विकास मे असाधारण साम्य होते हुए भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीय आर्य भाषा के विकास मे शिष्टो का लेखन आर्य जनता मे प्रवेश पा न सका, और आम जनता मे से उनमे नये नये प्रवाह आ न सके, गति न मिली। इस तरह साहित्य और सस्कृति के बीच व्यवधान बढ़ता चला।

पठन पाठन की प्रणालिका तो प्राचीन काल से चली आई है, किन्तु उस प्रणालिका मे भाषा की समृद्धि और सूक्ष्मता का गहराई से अध्ययन जैसा योरप मे होता था वैसा यहाँ होता नहीं। इस तरह का अध्ययन केवल आधुनिक ही है। हमेशा एक ही भाषा का अध्ययन, होता रहा, वह भाषा थी संस्कृत। यह भाषा विद्वानो मे मर्यादित थी और उसका प्रयोग ज्ञान का अवतरण और उच्च प्रकार के चिंतन के लिए ही सीमित था। बोलचाल की भाषाओं के नमूने हमारे पास कितने कम है। मराठी के कुछ भक्ति के ग्रंथ और शिलालेख, थोड़े से राजपूत काव्य, बंगाल से उपलब्ध कहावतो के दो सग्रह, ये सब या तो भाटो के कवित्त है या धार्मिक या व्यावहारिक काव्य है। अधिकाश, यह साहित्य ब्राह्मणो के बडप्पन का विरोधी है, और आम प्रजा के लिए लिखा गया है। उसकी प्रेरणा तो ब्राह्मण साहित्य से आती है, और उसका आदर्श उस पंडिताऊ साहित्य को हटाने का नहीं, सिर्फ लोकभोग्य रचना करने का ही है।

महाराष्ट्री काव्यो और सस्कृत नाटको के प्राकृत आर्य प्रजा की भाषा से किसी तरह से सबद्ध नही और सस्कृति का जो चित्रण उनमे है वह भी मर्यादित उच्च वर्ग की प्रजा का है, जिनका आदर्श तो संस्कृत ही था। पैशाची मे लिखी गई मशहूर बृहत् था के जो कुछ

अश उपलब्ध है उनसे मालूम होता है कि ये भी आम जीवन से काफी दूर है।

इन सब हकीकतो से प्रश्न उठता है हमारे पास बोलचाल की भाषा के प्राचीन नमूने कितने है ? अगर कहा जाय कि अशोक के शिलालेख और जैनो तथा बौद्धो के धार्मिक ग्रथो को नमूने के तौर पर गिन सकते है—तो उनमे भी अशोक के शिलालेख नियत वाक्य रचना (rigid syntax) के ही है, और इस सब साहित्य का आदर्श तो सस्कृत ही रहा है और उसी शिष्ट सस्कृति की छाप उन पर दृष्टिगोचर होती है।"

भाषा विज्ञान का एक सिद्धात है —भाषा शून्य मे विकसती नही। कभी भी भाषा अन्य भाषाए और समाज के ससर्ग से ही बढती है। 'शुद्ध' भाषा जैसा कुछ नही, जैसे 'शुद्ध' प्रजा जैसा कुछ नही। प्रथम व्याख्यान मे ही मैने बताया है कि जिसको हम आर्य भाषा, आर्य भाषा गण, इण्डो युरोपियन, आर्य ईरानी, आर्य भारतीय इत्यादि अभिधान लगाते है वे सिर्फ सहुलियत के लिए है। सिर्फ लेबल है। नये नाम प्रचलित न होने से हम ये पुराने नाम इस्तेमाल करते है। अभी तो Indo-Iranian, Indo Aryan की जगह सिर्फ Iranian, Indian ऐसे अभिधान इस्तमाल करने का मौका आ गया है। हम अब जानते है कि इस भाषा का व्यवहार करने वाले सिर्फ 'आर्य' कभी थे नही। अमुक भाषा का व्यवहार करने वाला एक जनसमूह था, और उस जनसमूह की भाषा को हम आर्य भाषा कहते है। यह भूलना न चाहिये कि उस जनसमूह मे हमेशा अनेक तरह की जातियो की बस्ती होगी।

आर्यो के आगमन के पूर्व भारत मे अनेक तरह की आर्येतर भाषाए विद्यमान थी। उनके आगमन काल मे पश्चिम मे और दक्षिण मे— और हिरोदोतस के आधार पर-ग्रीक -हिंडुइ, सस्कृत, दस्यु फारसी -हिंह 'बसाहती प्रदेश"—दूर उत्तर मे भी द्राविडो की बस्ती थी, मध्य मे मुन्डा और पूर्व मे सीनोतिबेटन भाषाए विद्यमान थी। इन सब पर, क्रमश आर्यो का प्रभुत्व बढ़ता गया। इस प्रवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम यही हो सकता है कि इन तलभाषाओ के(ubstratum languages) अनेक तत्त्व आर्य भाषा गण मे सम्मिलित हो गये होगे। प्राचीन सस्कृत मे भी इन आर्येतर तत्त्वो की खोज ठीक ठीक आगे बढ़ी है। सिलवा लेव्हि, झा प्रिझुलस्की और ल झु ब्लोख के निबंध सग्रह

प्री आर्यन एण्ड प्री द्रविडीअन, डो चेटर्जी, डो बरो इ० विद्वानों के निबंध, इस विषय का दिशासूचन करते है। इस क्षेत्र में अभी बहुत सी बातें विचारणीय है। इन तलभाषाओं का प्राचीन साहित्य विद्यमान नहीं, हमारा उन भाषाओं का ज्ञान भी मर्यादित है, और वर्तमान आर्येतर भाषाओं पर संस्कृत का प्रचंड प्रभाव, ये सब बातें इस विषय को अधिक संकुल करती है, और हमको उन तल-भाषाओं का अनुमान तुलनात्मक और ऐतिहासिक पद्धति से करना पडता है। ओक्सफर्ड के अध्यापक डो० बरो और अमेरिका के प्रोफेसर इमेनो द्रविड भाषाओं का तुलनात्मक कोष तैयार करते है, और आशा है कि यह कोष, हमारे लिए डो० टर्नर के नेपाली कोष का पूरक होगा। इस प्रकार के अनुसंधान के बाद ही तलभाषाओं का आर्य भाषा पर के प्रभाव का कुछ अनुमान हो सकेगा।

इस स्थान पर भाषाविज्ञान के एक महत्त्व के प्रश्न की कुछ आलो-चना आवश्यक है—तलभाषा परभाषा को किस तरह से प्रभावित करती है? भाषा विज्ञान में इस प्रश्न की बार बार आलोचना होती है। और सब जगह स्पष्ट चेतावनी दी जाती है— खास आधार न हो वहां तलभाषा के प्रभाव को over-estimate नहीं करना चाहिए।

भाषा अत्यंत गतिशील तत्त्व है। भाषा का ध्वनिस्वरूप हमेशा सूक्ष्म रीति से पलटता रहता है। जब ध्वनिस्वरूप बदलता है तब उस पर स्थित व्याकरण स्वरूप भी बदल जाता है। हरेक भाषा क उसकी अनोखी ध्वनिरचना होती है, और उस भाषासमाज का हरेक व्यक्ति उन ध्वनियों का स्वाभाविक रीति से व्यवहार कर सकता है। परभाषा के ध्वनि का उच्चारण, किसी भी खास तालीम वा वातावरण का प्रभाव न मिलने पर, यथास्वरूप रहता नहीं। इससे जब किसी भाषा पर परभाषा का प्रभाव शुरू होता है, और परभाषा के शब्दों का आगमन होता है, तब उन तलभाषा मे आते हुए परभाषी शब्दों की ध्वनियां पलट जाती है। सामान्यतः आगन्तुक परदेसी शब्दों की ध्वनियां तल भाषा के शब्दों की ध्वनिया से मिलती जुलती बन जाती है।

जैसे अंग्रेजी शब्द रोड—road (roud) goal (goul) के स्वर संध्यक्षर स्वरूप-ओउ- है, गुजराती मे ऐसे स्वरयुग्म शब्द के

आदि वा मध्य मे पाये जाते नहीं, इससे ऐसे अंग्रेजी स्वरयुग्मवाले शब्द जब गुजराती मे आते है, तब वे उनके ध्वनिस्वरूप छोड़कर गुजराती मे 'ओ' स्वर से प्रयुक्त होते है– रोड, गोल। अंग्रेजी का 'र' वर्ण घर्ष ध्वनि है, और शब्द मे जब स्वर के बाद आता है तब उसका उच्चारण होता ही नही, जब यह 'र' वर्ण वाले अंग्रेजी शब्द गुजराती मे आते है, तब वह गुजराती के 'र' वर्ण – जो tapped ध्वनि है –की तरह बोला जाता है। इस तरह नये आगन्तुक शब्द अपनी निजी ध्वनिया छोड देते है और उनके स्थान पर देशी भाषा की उनकी निकटतम ध्वनियों को अपना लेते है।

हमारे शब्द जब अंग्रेजी मे जाते है, तब उनकी ध्वनिया अंग्रेजी के ध्वनितंत्र के अनुसार बदल जाती है। समग्र प्रजा कभी अपना उच्चारणतंत्र बदलती नहीं, आगतुक शब्दों को ही उनका उच्चारणतंत्र पलटना पडता है। आगन्तुक शब्द दूसरी भाषा की उच्चारणव्यवस्था को बदलते नहीं, आप ही बदल जाते है।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा जब अनेक आर्येतर प्रजाओ के ससर्ग मे आने लगी तब उसके शब्द भडार पर विपुल असर होने लगा। आर्य परदेसी थे। इस प्रदेश की वनस्पति और पशुसृष्टि, भौगोलिक परिस्थिति, जनसमूह के रोजबरोज के रीतरसम और धार्मिकमान्यताए, इन सबके लिए शब्द तो उनको यहां के निवासियो से ही लेने पड़े। सिर्फ शब्दभंडार ही नहीं, किन्तु अनेक तरह का सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभाव आर्यो पर पडा होगा। इस प्रभाव से आर्य प्रजा के जीवन और भाषा मे पलटा भी आया।

इस आर्येतर प्रभाव के मूल तो वेद से ही मिलते है। वेद मे अनेक आर्येतर शब्द है, और उनकी खोज भी ठीक ठीक हो चुकी है। वेद ब्राह्मणरक्षित साहित्य होने से, आम जीवन की परंपरा मर्यादित रूपसे ही हम को मिलती है, इससे वेद मे आर्येतर प्रभाव का कुछ इंगितमात्र ही मिल सकता है। किन्तु, आर्येतर प्रभाव प्रबल था पूर्व के बोली प्रदेशो मे, जो कि आर्यो के सांस्कृतिक प्रभाव से दूर थे, जहां उदिच्य और अन्तर्वेदिकी सांस्कृतिक पकड इतनी मजबूत न थी, और जहां आर्य भाषा आर्येतर प्रजाओ के बीच मे विकसती थी, प्राकृतो का

विकास उधर होता है। इससे वहा की आर्यभापा के विकास मे आर्येतर प्रजाओं का विशेष हिस्सा हो सकता है।

यहा, जो आगे कहा गया है, उसका स्मरण रखना चाहिए। ये देशी भापाए –आर्येतर भापाएं– आर्य भापा को प्रभावित करती है, किंतु उनके प्रभाव से आर्यभापाओं के ध्वनिस्वरूप मे परिवर्तन नहीं होता। भापा स्वभाव से ही गतिशील तत्त्व है, उसकी गतिका दिशासूचन उसके निजी ध्वनितत्रसे ही होता है, पडोसी भापाओंसे तो उसकोमिलता है वह गतिका प्रेरक बल। क्वचित् ही, एक भापा दूसरी भापा के ध्वनियो को अपनाती है। एक नया वर्ण (Phoneme) भापा मे आने से भाषा के समग्र ध्वनिस्वरूप और व्याकरणस्वरूप को पलटना पडता है। कुछ उदाहरणो से यह विधान स्पष्ट होगा।

मूर्धन्य वर्णो का विकास भारतीय आर्य भापाओ की एक विशिष्टता है। ये मूर्धन्य ध्वनियां समग्र इन्डोयुरोपिअन भापागण मे खास संयोगो मे स्वीडीश और नोर्वेजियनको छोडकर सिर्फ भारतीय गण मे ही पाई जाती है। द्राविडी और मुंडा भापा विभागो मे दंत्य और मूर्धन्य की दो स्पष्ट वर्णमालाएं है। स्वाभाविक है कि ऐसा तर्क होगा —आर्यो के मूर्धन्य विकास को द्राविडी और मुन्डा के मूर्धन्यो के साथ कुछ संबंध है।

ऐतिहासिक भापाशास्त्र से मालूम होता है कि प्राचीनतम आर्य भारतीय भापास्तर मे ही मूर्धन्यो का विकास प्रारभ हो चुका था। इन्डोयुरोपियन के तालुकल्प कंठ्यवर्ण (Palatal gutturals– $\hat{k}$, $\hat{kh}$, $\hat{g}$, $\hat{gh}$ सस्कृत मे श छ ज ह (झ) रूपो मे विकसते हैं। इन श छ ज ह के सान्निध्य मे आने वाले दंत्यवर्ण मूर्धन्य हो जाते है। अलबत्ता, इन श छ ज ह के प्राचीन उच्चारण कुछ भिन्न प्रकार के होंगे। मृज् + त = मृष्ट-, राज् + त्र = राष्ट्र–, यज् का अयाट्, वह् का अवाट्। इस विधान की समग्र चर्चा आपको बटकृष्ण घोष, वाकेरनागेल इत्यादि संस्कृत भाषा के इतिहास ग्रंथो मे मिलेगी। हमारे लिए यह माहिती इतना सूचन करती है कि प्राचीनतम आर्य भारतीय मे ही, अमुक नियत सयोगो मे दंत्यो के मूर्धन्य होने का प्रारभ हो चुका था। इसके अलावा, इन्डोयुरोपियन झ के सान्निध्य मे आनेवाले दंत्यवर्ण मूर्धन्य होते है—

वैदिक दुळभ <* दूडभ *दूष्-दभ्<* दूष्-दभ्, नीड <*नि-ष्द्-अ< *नि-ष्द्-अ< *नि-स्द्-अ <*नि-सद्। इसके अलावा वेद मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है, जहाँ र के सान्निध्य मे आनेवाले दन्त्यवर्णों के मूर्धन्य होते है।

इन नियत सयोगो मे, प्राचीन भारतीय आर्य भाषा मे मूर्धन्य वर्णों का विकास आरभ होता है। यहाँ, अभी कोई द्राविड़ी वा आर्येतर शब्द आता नहीं— ये शब्द इन्डोयुरोपियन गण के ही है। भारतीय आर्य भाषा का यह ध्वनिविकास उसकी ध्वनिव्यवस्था की विशेषता है, उसके ध्वनितन्त्र का परिणाम है। ज्यो ही भारतीय आर्य मे मूर्धन्य वर्ण के उच्चारण की शक्यता शुरू होती है त्यो ही तल-भाषाओं के मूर्धन्य वर्ण वाले शब्दो को भारतीय आर्य भाषा मे आने की सुविधा हो जाती है। जो प्रक्रिया अमुक नियत सयोगो मे ही होती थी उसको अधिक वेग मिला, और जहाँ ऐसे सयोग न थे वहाँ भी मूर्धन्य वर्णों का विकास बढ़ा। वेद मे मूर्धन्य वर्ण डेढ प्रतिशत मिलते है, और यह गति मिलने से, प्राकृत और पालि काल मे खूब बढ़ जाते है। मूल मे जो ध्वनि विकास की सम्भावना थी उसको तलभाषा ने वेग दिया।

मागधी की विशिष्टता है अकारान्त नामो के प्र ए व –अस्> –ए। उसका प्रारम्भ तो होता है वेद काल मे ही। अमुक नियत सयोगो मे ही– जहाँ अनुगामी दन्त्य था वहाँ अस् का –ए होता था सुरे दुहिता, एधि (अष् – धि <*अस् धि)। कालक्रम से यह –ए, पूर्व की बोलियो के प्रभाव से, कदाचित् यहाँ की तल भाषा का प्रभाव हो, सार्वत्रिक होकर पूर्व की बोली का विशिष्ट अग बनता है।

तलभाषा गतिप्रेरक बल है, किन्तु मूल मे जहाँ गति की सम्भावना भी न हो, वहाँ वह नई प्रक्रिया पैदा नहीं कर सकती।

संयुक्त व्यजनो का उच्चारण प्राकृतो के ध्वनि विकास का एक महत्व का लक्षण है। प्राचीन भारतीय आर्य मे जब भक्त, रक्त जैसे संयुक्त व्यंजनो के उच्चारण मे उनके अंगभूत दोनो व्यजनो का स्फोट होता था— क्त मे क् और त का स्फोट (explosion) होता था। डो चेटर्जी ने उनके Indo Aryan and Hindi मे इस प्रक्रिया की विशद आलोचना की है। उस काल मे उच्चारण करने वाली प्रजा मे

धातु और प्रत्यय की भावना (root-sense) जागृत थी, इससे यह आदत उस काल की उच्चारण प्रक्रिया की विशिष्टता थी। रक्त भक्त मे ज् + त और भज् + त ऐसा ख्याल स्पष्ट था। जब हम किसी व्यजन (stop consonant) का उच्चारण करते है तब दो प्रवृत्तियाँ होती है implosion और explosion। पहले क्षण, जीभ अन्दर से बाहर आते वायु को रोक कर तालु के किसी भाग वा buccal cavity के किसी भाग के साथ चिपक कर रहती है। दूसरे क्षण उस वायु को मुक्त करने के लिये फिर अपने स्थान पर आ जाती है। पहली क्षण implosion कही जाती है, दूसरी explosion। पहली क्षण मे उच्चारण श्राव्य नहीं, किन्तु वह दूसरी क्षण की आवश्यक पूर्वावस्था है। दूसरी क्षण मे श्राव्यमाण ध्वनि का आकार इस पहली क्षण मे ही नियत होता है। दूसरी क्षण मे वह ध्वनि स्फुट होती है। प्राचीन भारतीय आर्य के सयुक्त व्यजन के उच्चारण मे, जब root sense जागृत थी, तब रक्त और भक्त जैसे शब्दो मे क्त के दोनो व्यंजनो का स्फोट होता था। दोनो explosive होते थे। आज कल अंग्रेजी मे भी ऐसा होता है कालक्रम से इस root-sense का विस्मरण होने से उच्चारण मे र - क्त, भ - क्त जैसे विभाग होने लगे, और वहां सयुक्त व्यजन मे जो बलवान था उसका ही explosion हुआ, दूसरा implosive ही रह गया। कालक्रम से implosive वर्णका सावर्ण्य (assimilation) होने से एक ही व्यजन का उच्चारण होने लगा। यह प्रक्रिया भी ठीक ठीक प्राचीन है, प्रातिशाख्यो मे इसकी आलोचना की गई है। सयुक्त व्यंजन का पहला व्यजन -सन्नतर-पीडित- कहा जाता है, उसका अभिनिधान –सधारण–होता है। जब दोनो वर्णों का स्फोट होता है, रक्–त तब पहला syllable सवृत (close) होगा, किन्तु जब एक का ही स्फोट होगा र–क्त, तब पहला syllable विवृत (open) होगा। इससे इस प्रक्रिया के परिणाम से close syllable का उच्चारण open हो गया। इसके फलस्वरूप स्वरो के ह्रस्वदीर्घत्व, स्वरा-घात, (stress accent) सबमे परिवर्तन हो गया। प्राचीन आर्यभाषा की नादप्रधान उच्चारण पद्धति बदल कर मध्य भारतीय आर्य के काल मे बल प्रधान हो गई। अलबत्ता, इस विषय मे आज हमारा ज्ञान सीमित है, और अनुसधान भी कम हुआ है।

इस तरह के हेरफेर होने पर भी प्राकृतो की व्यजन व्यवस्था

तात्त्विक दृष्टि से सस्कृत से भिन्न नही। पांच वर्ग—कंठ्य, तालु, मूर्धन्य, दंत्य, ओष्ठ्य, हरेक वर्ग मे एक अल्पप्राण घोष और अघोप, एक महाप्राण घोष और अघोप, और एक एक अनुनासिक। जो कुछ परिवर्तन होता है वह स्पर्शवर्णो के प्रयत्नभेद का है, व्यवस्था system का नही। प्राचीन भारतीय से मध्य भारतीय आर्य का यह विकास अवेस्ता से फारसी मे होते हुए विकास से अलग है। हमने देखा कि सप्त मध्य भारतीय आर्य मे सत्त होगा। फारसी में व्यंजन का सावर्ण्य नहीं होता किन्तु पहला व्यजन घर्प हो जाता है, और तब हप्त से हमको हफ्त मिलता है। इस प्रक्रिया से फारसी मे नई ध्वनियो का विकास होता है, मध्य भारतीय आर्य मे ऐसे विकास की कोई आवश्यकता न रही।

मध्य भारतीय आर्य का यह व्यजन विकास प्राकृत बोलनेवालो की शिथिलता अज्ञान, आलस्य का परिणाम है ऐसी मान्यता गलत है। भापा का यह क्रम ही है कि प्राचीन तत्त्वो को छोडती जाय और नये का स्वीकार करती जाय। आजकल के हिन्दी बोलने वालो को पता न होगा कि आसौज शब्द के अश्व-युज् ऐसे दो भाग थे, गुजराती बोलने वालो को पता नही कि पधारो शब्द पद्रहवी शताब्दी मे 'पाउ-धारउ' बोला जाता था। ऐसा ज्ञान न होना शिथिलता वा आलस्य नही। जो प्रक्रिया पिछली पीढी मे हो गई, उसका ख्याल आनेवाली पीढी को कैसे हो सकता है? उस प्रक्रिया का प्रभाव ('ogical effects) तो पड़ता है, किन्तु उसके कारण का खयाल सबको कैसे हो सकता है? और, अगर प्राकृतो के व्यजनो का सावर्ण्य को आलस्य गिना जाय तो फारसी के घर्षभाव को आधा आलस्य गिनना रहा न?

भाषापरिवर्तन के बीज उसकी ध्वनि व्यवस्था मे पडे होते है। कोई उच्चारण सरल या कठिन नही। हरेक भाषा की अपनी निराली ध्वनि व्यवस्था होती है। एक सरल या दूसरी कठिन इस तरह किसी भाषा के बारे मे कहना साहस है, और शिष्टो की जबान कठिन और ग्रामीणो की सरल यह भी इतनी ही साहस की बात है।

व्यंजनो के सावर्ण्य की यह घटना है तो प्राकृत काल की विशिष्टता किन्तु यह प्रक्रिया काफी प्राचीन है, और वेद मे भी मिलती है। उच्चा मे उत्-अलग है, अवेस्ता मे मिलता है उस्-च, मज्ज्-मज्जति का संबध मिलता है 'मद्गु' पानी मे रहती मछली से। ई० पू० के तीसरे

शतक के चन्द्रगुप्त नाम के ग्रीक संस्करण मे मिलता Sandrakottos भी इसी प्रक्रिया का सूचक है।

प्राकृतो के इन महत्त्व के ध्वनि परिवर्तनो मे और भी कुछ गिना जा सकता है।

आर्य ईरानी काल के *अइ *अउ सध्यक्षर प्राचीन भारतीय आर्य मे ए और ओ हो जाते है, और * आइ * आउ का ऐ और औ होता है। प्राकृत काल मे -मध्यभारतीय आर्य मे -ये ए ऐ ओ औ के ए और ओ होते है। स्वरो का जो परिवर्तन वैदिक काल मे ही शुरू हो चुका था वह प्राकृत मे आगे बढ़ा।

ऋ का विकास अ इ उ मे होता है, और इस विकास के बीज ऋग्वेद मे काफी है। उसके अनेक उदाहरण ऋग्वेद मे भी मिलेगे।

प्राकृतकाल मे अत्य व्यंजन का उच्चारण स्फुट नही होता था, इससे अंत्य व्यंजनो का लोप होता है। अंत्य उष्मवर्ण और म् का स्पर्शत्व भी कम- नहिवत्—हो गया था।

स्पर्श वर्णो की उच्चारण व्यवस्था जैसी थी वैसी ही रहती है। आदि मे स्पर्श वैसा ही रहता है। महाप्राण घोषवर्ण भ और घ के स्पर्शत्व का लोप प्राचीन है। अघोष स्पर्श वर्ण कुछ अधिक समय टिकते है, ई. पू ३०० से ई पू १०० तक इन सबका घोषभाव हो जाता है। पुराने घोषवर्णो की जगह पर व्यंजनश्रुति स्वर आ जाते है—ड और ढ छोड़कर।

हमने देखा की ध्वनि-व्यवस्था के महत्त्व के परिवर्तन के बीज प्राचीन भारतीय आर्य मे पड़े ही थे, तल भाषाओ ने इनको वेग देकर आगे बढाए। तल भाषा का आर्य भाषा पर का प्रभाव इस दृष्टि से ही evaluate करना चाहिए। इससे ज्यादा नही।

जब ध्वनिव्यवस्था पलटती है, तब अपने आप व्याकरण व्यवस्था भी पलटी है। जब कोई एक वर्ण पलटता है तब जहाँ जहाँ वह वर्ण आयगा वहाँ सब जगह पलटा होगा, और यह परिवर्तन सारे व्याकरण तंत्र को भी पलटा देगा। इस दृष्टि से यदि हम प्राकृतो के व्याकरणी तंत्र पर दृष्टिपात करेगे तो मालूम होगा कि उसके परिवर्तित व्याकरणी तंत्र का सारा आधार उसके परिवर्तित ध्वनितत्र पर ही है।

प्राकृतो मे अत्य व्यंजन के लोप से, व्यजनांत शब्द रहते नहीं। यह परिवर्तन होते ही नाम के रूपाख्यानो मे पलटा आ जाता है। संस्कृत के अनेकविध रूपाख्यानो की जगह मुख्यत्वे -अ-इ-उ अन्तवाले नाम ही रह जाते है, और उनके ही रूपाख्यान रहते है। अन्त्यस्वर के ह्रस्वदीर्घत्व का परिवर्तन होने से (length of the final vowels) प्राकृत के रूपाख्यानो मे ह्रस्व दीर्घ के रूपाख्यानो का भेद नष्ट हो गया।

शब्दो की जाति (grammatical gender) मे भी पलटा आने लगा, क्यो कि उनके अस्तित्व का आधार शब्द का अन्तिम भाग ही था, और वह पलटने लगा था। इस परिवर्तन का सब कारण यही है—शब्द का अंतिम वर्ण के उच्चारण की prominence घटती चली, इससे उसका उच्चारण दुर्बल होकर कालक्रम से नष्ट हो गया, और उसके फलस्वरूप शब्द के अन्तिम भाग पर आधार रखने वाली जितनी व्याकरणी प्रक्रियाएँ थी उन सबकी भेद रेखाएं कम हो गई।

ध्वनितत्र के परिवर्तन पर आधार रखनेवाला दूसरा महत्त्व का व्याकरणी परिवर्तन है -संध्यक्षरो का विकास। प्राचीन भारतीय आर्य मे ही आर्यइरानी काल के * अइ * अउ के ए, ओ हो गए थे, सिर्फ आइ * आउ का ऐ और औ होता था। यह प्रक्रिया आगे बढ़ी और प्राकृत मे इन सबका, ए, ऐ, ओ, औ का, ए और ओ हो गया। ऐ और औ के ये परिवर्तन होने से ही इन दो वर्णो पर आधार रखने-वाली जितनी व्याकरणी प्रक्रियाए थी उन सब पर प्रभाव पड़ा, और महत्त्व के परिवर्तन हो गए।

पहले तो द्विवचन का नाश हो गया, कारण द्विवचन के- औ वाले रूप प्राकृत मे -ओ वाले हो जायेगे और ऐसा होते ही प्राकृत के प्रथमा एकवचन के -ओ कार मे और द्विवचन के-ओकार मे भेद ही न रहा, और भाषा ऐसी ambiguity सहन नही कर सकती इसलिए द्विवचन को बिदा लेना पडा।

तृतीया बहुवचन के- ऐ का -ए होते ही वह -ए सप्तमी के -ए के साथ टकराता है। इससे एक विलक्षण परिवर्तन हुआ कि तृ ब. व. के लिए- ऐ की जगह प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का एक पुराना

बोली स्वरूप–एभि' को पुनर्जी न मिला और तृ ब व. के लिए –एहि का प्रचार हुआ।

प्राकृत इकारान्त और उकारान्त (ह्रस्व दीर्घ–इ–ई–उ–ऊ के भेद प्राकृत मे मिट चुके है) नामो के चतुर्थी और षष्ठी ए व. के प्रत्यय है –इणो, –उणो–इमिणो, भाणुणो इ०। औ का ओ होते ही यहाँ सप्तमी और षष्ठी की अव्यवस्था होगी, इससे पालि मे तो यह सप्तमी बहुत जगह पर अव्ययो के लिए मर्यादित हो गई, जैसे आदो–आदौ, रत्तो–रात्रौ, प्राकृतो मे चतुर्थी षष्ठी का भी भेद नही, इसलिए अधिक भ्रम पैदा होने की सम्भावना थी इससे इकारान्त और उकारान्त नाम के चतुर्थी षष्ठी के प्रत्ययो के रूपाख्यान मे तृतीया की तरह –ण का आगम हो गया। (देखो-वाकरनागेल, आल्तीन्दिश ग्रामातिक 1II 41)

अन्त्य व्यजन का नाश होते ही अकारान्त नाम के पचमी ए व. का रूप प्रथमा ब० व० के साथ ही टकरायगा, यह भ्रम टालने के लिए पंचमी के लिए पुराने सार्वनामिक प्रत्ययो का आधार लिया गया। जैसे स्मात्– पालि वीरस्मा, प्राकृत वीरम्हा।

अन्त्य व्यजन का नाश, और स्वरो के इन परिवर्तनो से पुरानी प्रत्यय व्यवस्था टूट पड़ी, और इससे अनेक प्रकार के post-positions का विकास हुआ, जिसका महत्त्व (morphological function) वर्तमान भारतीय आर्य भाषा मे बढ़ गया है।

इस तरह से व्याकरणीतन्त्र के परिवर्तन के बीज पड़े होते है ध्वनितन्त्र के परिवर्तन मे। आज तो समय भी नही है, और मेरी गुंजाइश भी इतनी नही, किन्तु वास्तव मे मध्य भारतीय आर्य भाषा का समग्र व्याकरणीतन्त्र को ध्वनितन्त्र के परिवर्तन से समझना चाहिए। भाषा दृष्टि से अभी तक प्राकृतो का व्याकरण लिखा गया ही नहीं। यह कार्य भविष्य का है।

यह कह कर मै इस बात पर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं कि सस्कृत से प्राकृत मे, प्राचीन भारतीय आर्य से मध्य भारतीय आर्य मे, ध्वनि तन्त्र के जो परिवर्तन होते है, उनके बीज तो प्राचीन भारतीय आर्य मे ही मौजूद थे। कालक्रम से उनका विकास होता है,

आर्येतर भाषाओ से उनको गति मिलती है। ध्वनितन्त्र के परिवर्तन से ही समग्र व्याकरणीतन्त्र मे पलटा आ जाता है।

इस दृष्टि से जब विचार करते है तब भारतीय आर्य भाषाओ के विकास का दूसरा महत्त्व का तत्त्व दृष्टिगोचर होता है। वह है भारतीय आर्य भापाओ की एकता। आर्य भापा भारत मे अनेक आर्येतर प्रजाओ के बीच मे विकसी, स्थिर हुई। इन आर्येतर भाषाओ मे कई भाषाये काफी विकसित थी, उनका साहित्य भी विद्यमान था। इतने विशाल देश मे आर्य भापा उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक फैल गई, और अनेक आर्येतर भाषाओ के गाढ़ सम्पर्क मे आने पर भी हमको आर्य भापा का इतिहास अविच्छिन्न रूप से मिलता है। उसकी एकसूत्रता हम स्पष्टता से प्रत्यक्ष कर सकते है। ऐसी एकता के उदाहरण समग्र इण्डोयुरोपियन गण मे, रोमान्स गण को छोड़कर कहीं भी मिलते नहीं। इतना अविच्छिन्न विकास किसी अन्य इण्डोयुरोपियन भापा का मिलता नहीं। इसका कारण शायद वही होगा जिसकी हमने गर्हणा की है–शिष्टो का प्रभाव–उनके प्रयत्न से ही, शायद यह भापा छिन्न विच्छिन्न नहीं होने पाई, एक तरह की एकता सुरक्षित रही। इस एकता ने भारतीय सस्कृति की एकता पैदा करने मे अपना हिस्सा दिया है।

भारतीय भाषाशास्त्र के किन अगो का अनुसंधान अब आवश्यक है। इसकी आलोचना ज़ुल् व्लोख ने अपने 'फर्लोंग लेक्चर्स' मे काफी की है, और इसमे कुछ कहने का रहा नहीं। किन्तु प्राकृतो को लक्ष्य मे रखकर, जैन साहित्य के अनुसधान मे हम क्या कर सकते है वह मै आपको कुछ सूचित करने का साहस करता हूं।

पालि साहित्य का संशोधन श्रीमान और श्रीमती राइस डेवीस के प्रयत्नो से पाली टेकस्ट सोसाइटी द्वारा काफी हो चुका है। मूल ग्रंथो के संशोधित प्रकाशनो से पालि भाषा और साहित्य के संशोधन को वेग मिला। गाइगर का पालि भाषा और साहित्य, चाईल्डर्स का पालि कोश, मलाल सेकर का पालि विशेषनामो का कोश, और एन्डर्सन, हेल्मर स्मीथ, एजर्टन इत्यादि के पालि भाषा के विषय मे अनुसधान, इस सब प्रवृत्ति से पालि भाषा और साहित्य का अध्ययन आज संगीन हो गया है। मूल ग्रथो के संशोधित प्रकाशन के बाद ही भाषाकीय वा सांस्कृतिक संशोधन सगीन हो सकते है।

शिलालेख के प्राकृतो की आधारभूत आवृत्तियाँ एपिग्राफिका इण्डिका द्वारा, ओझा जी, सनार, हुल्ट्ज्श, बुल्नर, कोनाउ के सशोधनो से हमारी समक्ष व्यवस्थित स्वरूप से प्राप्त है। इससे आवृत्तियो के आधार पर शिलालेखो के प्राकृतो की भाषा का अध्ययन भी हो सका है। मेहेन्दले का स्थल काल की मर्यादाओ को लक्ष्य मे रखकर किया हुआ शिलालेखो के प्राकृतो की भाषा का अध्ययन, ब्लोख का अशोक की भाषा का अभ्यास, इत्यादि महत्त्व के सशोधन हमको मिलते है।

भारत बाहर के प्राकृतो की आवृत्तियां और उनकी भाषा के संशोधन ल्यूडर्स के ब्रुकष्टुक डेर बुद्धिस्टिशन ड्रामेन से, डो बरो के और सनार और बरूआ के अध्ययनो से मिलते है।

नाटको के प्राकृतो, और वैयाकरणो के प्राकृतो के भी काफी प्रकाशन और अध्ययन हो चुके है। प्रीन्ट्स का और सुखथनकर का भासकी भाषा का अभ्यास, ग्रियर्सन, वैद्य, नित्तिदोलची इ० का प्राकृत व्याकरणो का सपादन सशोधन हो चुका है। किन्तु आजपर्यन्त नाटको के प्राकृतो के संपादन मे बिलकुल अराजकता फैली हुई है। हमारे विद्यापीठो मे सस्कृत, प्राकृत और पालि के अभ्यासक्रम मे इतने watertight compartments है कि भारतीय भाषा और साहित्य का अविच्छिन्न इतिहास एम ए तक के अभ्यास मे किसी विद्यार्थी को नही कराया जाता। जहाँ तक भाषाओ के अभ्यास मे हमारी दृष्टि विशाल न होगी वहां तक यह अराजकता रहेगी ही। इस विषय मे अधिक कहता नहीं, किन्तु आपको प. सुखलाल जी का लखनौ प्राच्यविद्या परिषद मे प्राकृत विभागके प्रमुखपदसे दिया हुआ व्याख्यान पढने का सूचना - रता हू।

प्राकृतो के यह सब अगो के संपादन सशोधन मे महत्त्व की त्रुटि रहती है जैन साहित्य के अनुसधान की और विशेष रूप से आगम साहित्य के सपादन की। साहित्यिक प्राकृतो की कुछ आवृत्तिया हमारे पास है। मुनि चतुरविजय, पुण्यविजय सपादित सुदे ॱ हिडी, वेबर की गाथासप्तशती, डो उपाध्ये के अनेक महत्त्व के सपादन द्वारा हमारी समक्ष प्राकृत साहित्य का कुछ आशास्पद सग्रह हो चूका है। किन्तु आगम साहित्य के होर्न्ले के उवासगदसाओ, शुब्रिग के आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध, और शार्पेन्तिए के उत्तराध्ययन को छोडकर आगमो की

अच्छी आवृत्तियां कहा ? आज सबसे अधिक महत्त्व प्राकृत साहित्य के संशोधन मे इन आगमो के व्यवस्थित सपादन का है। पिछले कई सालो से मुनि पुण्यविजय के परिश्रम से पाटण, खभात, जैसलमेर इनके भंडारो से अनेक प्राचीन प्रतियो का पुनरुद्धार हो रहा है, और पुरोगामी विद्वानो को उपलब्ध न थी ऐसी कई प्रतियाँ प्रकाश मे आई है, और आज, हमको उन प्रतियो का उपयोग करना चाहिए। पाठ-निर्णय के शास्त्रीय सिद्धांतो के अनुसार प्रतियो की पाठपरपरा नियत करने के बाद ही व्यवस्थित संपादन शक्य होगा। हरेक आगम की आवृत्ति के साथ उसका शब्दकोष, उसकी भाषा, उसका अन्य प्राकृत साहित्य से संबंध, अन्य परपरा से उसकी तुलना, इत्यादि सब काम होना चाहिए। इस सशोधन का आनुषंगिक काम चूर्णि और निर्युक्तियो का सपादन होगा। इन ग्रंथो की भाषा शैली का अभ्यास मध्य भारतीय आर्य के भाषा ि कास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है, यह बात आज तो एजर्टन के बुधिस्ट सस्कृत के मूल्यवान सशोधनो मे स्पष्ट है।

आपने देखा होगा कि पिछले कुछ सालो से इस शास्त्रीय संपादन के कार्य से भारतीय भाषाविज्ञान के अध्ययन को असाधारण वेग मिला है। पूना के महाभारत के सपादन से महाभारत के नीचे बहता प्राकृतो का प्रवाह स्पष्ट होता जा रहा है। इस तरह से जैन आगमो के व्यवस्थित सपादन सशोधन से हम जैन, बौद्ध, हिंदु, अर्धमागधी पालि वा महाभारत की भाषापरपरा एक दूसरे से कितनी निकट थी वह भी हम देख सकेंगे।

ऐसे सपादनो से ही हमारे पास प्राकृत कोश तैयार होगा। और ऐसे कोश के बाद ही प्राकृत व्याकरण लिखा जा सकेगा। पीशल का प्राकृत व्याकरण पचास साल पहले प्रकाशित हुआ उनको समक्ष न थी संशोधित आवृत्तियाँ, न उन्होंने शिलालेखो का उपयोग किया, न पालि का। आज-तो ऐसे व्याकरण ी आवश्यकता है जहाँ हम सब तरह के प्राकृतो का जैन वा बौद्ध धार्मिक साहित्य, शिलालेखो के प्राकृत, नाटको के प्राकृत, साहित्यिक प्राकृत, वैयाकरणो के प्राकृत और भारत बाहर के प्राकृत का समग्र दृष्टि से ख्याल कर सके। ऐसा व्याकरण ही एक और वैदिक और दूसरी ओर से अपभ्रंश और नव्य भारतीय आर्य भापा को संलग्न कर सकेगा। संपादन और कोश के पहले व्याकरण नहीं हो

सकेगा। रोथ और बोथलिक के बृहत् कोश के बाद ही व्हिट्नी और वाकरनागेल के मशहूर व्याकरण शक्य हो सके। आगमो का संपादन सशोधन हमारा पहला काम है।

आज जैन समाज अपने साहित्य और इतिहास को उदारता से देख सकता है। प्रस्तुत व्याख्यानो का आयोजन भी उस उदार दृष्टि का परिणाम है। अनेक तरह की सशोधन प्रवृत्तियो को उससे सहारा मिला है। माणिक्यचद्र ग्रथमाला, सिघी ग्रथमाला, सन्मति प्रकाशन, इ० के द्वारा सशोधन को वेग मिल रहा है। अनेक व्यक्ति और सस्थाएँ इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण सशोधन बौद्धिक उदारता से कर रहे है। मुनि पुण्यविजय, प० सुखलाल जी तो आप ही संस्थारूप है, और ऐसी कई प्रवृत्तियो को वेग दे रहे है।

इन सब व्यक्तियो और संस्थाओ को हम विनति करते है कि अब आगमो का सपादन सशोधन भी ऐसी उदार दृष्टि से किया जाय। ऐसे काम के बिना जैन साहित्य और सस्कृति का इतिहास अपूर्ण ही रह जायगा, और भारतीय भाषा इतिहास का एक प्रकरण अलिखित रह जायगा। मुझे आशा है कि मेरी इस अपील मे आप सब साथ देगे, और यह काम शीघ्र ही आरभ होगा।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

(इन व्याख्यानो मे भाषा विषयक जिन ग्रथो का उपयोग किया गया है, उन्ही की सूची यहाँ दी जाती है ।)

Introduction a l'etude comparative des langues indo europeennes. Antoine Meillet Paris, 7th edition 1931.

Les dialectes indo europeens. Antoine Meillet second edition Paris.

L' Indo-Aryen du Veda au temps modernes Jules Bloch, Paris 1934

Altindische Grammatik. Jacob Wackernagel vols I, II. 1., III Gottingen, 1896, 1905 & 1930

Grammatik der Prakrit-Sprachen, R Pischel. Strassburg 1900

Pali Language and Literature (Eng. Tran) W. Geiger

Inscriptions of Asoka Hultzch Oxfod 1925.

Historical Grammar of Inscriptional Prakrits M. A. Mahendale Poona 1948

Comparative Grammar of Middle Indo Aryan Sukumar Sen. Calcutta 1951

Bruchstucke Buddistischer Dramen H. Lueders.

The Language of the Kharosthi Documents T Burrow London 1937

Some Problems of Indo-Aryan Philology. Furlong Lectures by Jules Bloch published in the Bulletin of the School of Oriental Studies vol V. 4, 1930

Prakrit Languages and their Contribution to Indian culture S M Katre Bombay 1945